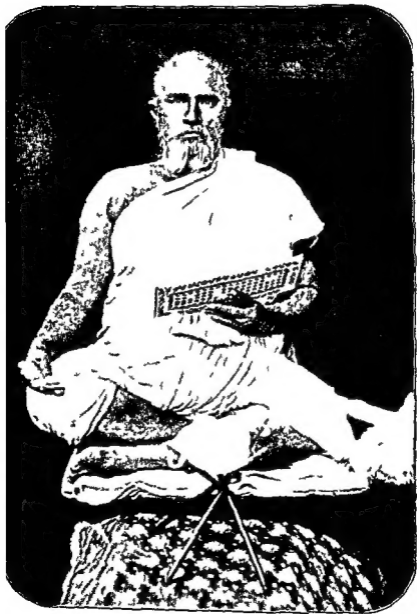




“उपाध्याय  
श्रीमद् वीरविजयजी महाराज”



जन्म स० १६०८

स्वर्गत्वास स० १६७५



# सामान्य सूची ।

विषय	पृष्ठ
सूचना	
वक्तव्य	१-१
प्रस्तावना	५-१०
तीसरे कर्म ग्रन्थ की विषय सूची	१४-१५
प्रमाण रूप से निर्दिष्ट पुस्तकें	१६
अनुवाद सहित तीसरा कर्म ग्रन्थ	१-७५
परिशिष्ट (क)	७६-८०
परिशिष्ट (ख)	८३-९०६
परिशिष्ट (ग)	१०४-१०६
शाब्दिक	१०७

## सूचना-1

पाठक महोदय ! आप इस पुस्तकके आरम्भ में विनम्र  
 कोटा नेत्र रह हैं वे हैं परम पूजनीय प्रात स्मरणीय उपाध्याय  
 श्री बीमविनयजी महाराज । आपका स्वर्गवास वि०  
 सं० १९७५ मार्गशाप कृष्णा अष्टमी को समाप्त ( गुजरात )  
 में हुआ । आपने अपने उपदेश व चरित्र के प्रभाव से जैन  
 समाज का बड़ा भारी उपकार किया है । इस लिये आप व  
 स्मरणार्थ कम विषयक यह छोटीसी किन्तु महत्त्वपूर्ण किताब  
 प्रकाशित की जाती है । इस की छपवाई आदि में कलकत्ता  
 श्री जैन शताम्बर मठ ने आर्थिक सहायता दी है । अन्तर्ध हम  
 मठ के कृतज्ञ हैं । आगे के कामान्धों के अनुवाद भी हो रह  
 हैं । हम प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थों का हिन्दी भाषा में  
 मुक्तम करने की निरत हैं । इस काम में विद्वान और श्रीमान  
 के सहयोग ही पूर्ण अपेक्षा है । जो धनवान इस पवित्र  
 कार्य में अपने धन का सदुपयोग करना चाहे व हम सृचित  
 कर ताकि आगे के ग्रन्थों को प्रकाशित करने में, उन के धन  
 का सदुपयोग किया जा सके ।

श्री श्रीमान्  
 पुस्तक प्रचारक महाडल  
 रीगन मुडला आगरा

आपका—  
 तथी ।

## वक्तव्य ।

यह ग्रन्थस्यामित्य नामक तीसरा कर्मग्रन्थ हिन्दी-अनुवाद सहित पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाता है । यह ग्रन्थ प्रमाण में छोटा होने पर भी विषय-दृष्टि से गंभीर और महत्त्वपूर्ण है । अगले कर्मग्रन्थ और पञ्चसमह आदि आकर ग्रन्थों में प्रवेश करने के लिये जिज्ञासुओं को इस का पढ़ना आवश्यक है ।

सकलन-क्रम । शुरुमें एक प्रस्तावना दी गई है जिसमें पहले ग्रन्थका विषय बतलाया है । अनन्तर मार्गणा और गुरास्थान का यथार्थ स्वरूप समझाने के लिये उन पर कुछ विचार प्रकट किये हैं तथा उन दोनों का पारस्परिक अन्तर भी दिखाया है । इस के बाद यह दिखाया है कि तीसरे कर्मग्रन्थ का पूर्व कर्मग्रन्थों के साथ क्या संबंध है । अनन्तर, तीसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यास के लिये दूसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यास की आवश्यकता जनाने के बाद प्राचीन-नवीन तीसरे कर्मग्रन्थ की तुलना की है, जिससे पाठकों को यह बोध हो कि किम में कौनसा विषय अधिक, न्यून और किस रूपमें वर्णित है । प्रस्तावना के बाद तीसरे कर्मग्रन्थ की विषय सूची दी है जिससे कि गाथा और पृष्ठवार विषय मालूम होसके । तत्पश्चात् कुछ पुस्तकों के नाम दिये हैं जिन से अनुवाद, टिप्पणी आदि में सहायता ली गई है ।

## सूचना ।

पाठक महोदय ! आप इस पुस्तकक आरम्भ में जिनका फोटो देख रहे हैं वे हैं परम पूजनीय प्रात स्मरणीय उपाध्याय श्री श्रीरघुनन्दन महाराज । आपका स्वर्गयाम वि० स० १९७५ मागसार्ध कृपण अष्टमी को समाप्त (गुजरात) में हुआ । आपको अपने उपदेश व चारित्रिक प्रभाव से जैन समाज का बड़ा भारी उपकार किया है । इस लिये आप क स्मरणार्थ कर्म विषयक यह छोटीसी किन्तु महत्त्वपूर्ण किताब प्रकाशित की जाती है । इस की छपवाई आदि में कलकत्ता श्री जैन श्वेताम्बर सघ ने आर्थिक सहायता दी है । अन्तर्गत् हम सघ के कृतज्ञ हैं । आगे के कर्ममन्थों के अनुशासन भी हो रहे हैं । हम प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थों का हिन्दी भाषा में मुद्रण करने की फिर से हैं । इस काम में विद्वान् और आत्मान के सन्योग की पूर्ण अपेक्षा है । जो धनवान् इस परित्र कार्य में अपने धन का सदुपयोग करेगा चाहे वह हम सूचित करें ताकि आगे के ग्रन्थों को प्रकाशित करने में, उन के धन का सदुपयोग किया जा सके ।

श्री आत्मान  
पुस्तक प्रचारक मण्डल  
रौशन मुद्रण आगरा

आपका—

तथी ।

## वक्तव्य ।

यह व्यवस्थामित्य नामक तीसरा कर्मग्रन्थ हिन्दी-अनुवाद सहित पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाता है । यह ग्रन्थ प्रमाण में छोटा होने पर भी विषय-दृष्टि से गभीर और महत्त्वपूर्ण है । अगले कर्मग्रन्थ और पञ्चसमग्र आदि आकर ग्रन्थों में प्रवेश करने के लिये जिज्ञासुओं को इसका पढ़ना आवश्यक है ।

सकलन-क्रम । शुरूमें एक प्रस्तावना दी गई है जिसमें पहले ग्रन्थका विषय बतलाया है । अनन्तर मार्गणा और गुरुस्थान का अर्थ स्वरूप समझाने के लिये उन पर कुछ विचार प्रकट किये हैं तथा उन दोनों का पारस्परिक अन्तर भी दिखाया है । इस के बाद यह दिखाया है कि तीसरे कर्मग्रन्थ का पूर्व कर्मग्रन्थों के साथ क्या सम्बन्ध है । अनन्तर, तीसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यास के लिये दूसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यास की आवश्यकता जनाने के बाद प्राचीन-नवीन तीसरे कर्मग्रन्थ की तुलना की है, जिससे पाठकों को यह बोध हो कि किम में कौनसा विषय अधिक, न्यून और किस रूपमें वर्णित है । प्रस्तावना के बाद तीसरे कर्मग्रन्थ की विषय सूची दी है जिससे कि गाथा और पृष्ठवार विषय मालूम होसके । सत्परचात् कुछ पुस्तकों के नाम दिये हैं जिन से अनुवाद, टिप्पणी आदि में सहायता ली गई है ।



इसके बाद अनुवाच-सहित मूल ग्रन्थ है। इसमें मूल गाथा के नीचे छाया है जो संस्कृत जानने वालों के लिये विशेष उपयोगी है। छाया के नीचे गाथा का सामान्य अर्थ लिख कर उसका विस्तार से भावार्थ लिखा गया है। पढ़ने वालों की सुगमता के लिये भाषा में यन्त्र भी यथास्थान दाखिल किये हैं। बीच बीच में जो जो विषय विचारास्पद, विवादास्पद, या सवहास्पद आया है उस पर टिप्पणी में अलग ही विचार किया है जिससे विशेषदर्शियों को देखने व विचार का अवसर मिले और साधारण अभ्यासियों को मूल ग्रन्थ पढ़ने में कठिनता न हो। जहाँ तक हो सका, टिप्पणी आदि में विचार करते समय प्रामाणिक ग्रन्थों का हवाला दिया है और जगद् २ दिगम्बर ग्रन्थों की समति-विमति भी दिवाई है।

अनुवादके बाद तान परिशिष्ट हैं। परिशिष्ट (क) के पहले भाग में गोम्मटसार के खास स्थलों का गाथाचार निर्देश किया है जिससे अभ्यासियों को यह मालूम हो कि तीसरे कमग्रन्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले कितने स्थल गोम्मटसार में हैं और इस के लिये उसका कितना २ हिस्सा देयना चाहिये। दूसरे भागमें श्वेतम्बर दिगम्बर शास्त्र के समान असमान कुछ सिद्धान्तों का हल्लख इस धाराय स किया है कि दोनों संप्रदाय का तार्किक विषय में कितना और किस किस बात में साम्य और वैषम्य

है। प्रत्येक सिद्धान्त का संक्षेप में उल्लेख करके साथ ही उस उस टिप्पणी के पृष्ठ का नम्बर सूचित किया है जिसमें उस सिद्धान्त पर विरोध विचार किया है। तीसरे भाग में इम कर्मग्रन्थ के साथ सम्यन्ध रखने वालों पञ्चसग्रह की कुछ बातों का उल्लेख है। परिशिष्ट (ख) में मूल गाथा के प्राकृत शब्दों का संस्कृत छाया तथा हिन्दी-अर्थ सहित षोडश है। परिशिष्ट (ग) में अभ्यासियों के सुभीते के लिये केवल मूल गाथाएँ दी हैं।

अनुवाद में कोई भी विषय शास्त्र विरुद्ध न आ जाय इस बात की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। यहाँ कहीं पूर्वापर विरोध मिटाने के लिये अन्य प्रमाण के अभाव में अपनी सम्मति प्रदर्शित की है। क्या, छोटे क्या बड़े, सब प्रकार के अभ्यासियों के सुभीते के लिये अनुवाद का मरल पर महत्वपूर्ण विषय में अलकृत करने की यथासाध्य कोशिश की है। तिम पर भी अज्ञात भाव से जो कुछ त्रुटि रह गई हो उसे उदार पाठक संशोधित कर लें और हमें सूचना देने की कृपा करें ताकि दूसरी आवृत्ति में सुधार हो जाय।

निवेदक—वैरपुत्र ।





## प्रस्तावना

विषय—मार्गणाओं में गुणस्थानों को लेकर बन्ध-स्वामित्व का वर्णन इस कर्मग्रन्थ में किया है, अर्थात् किस किस मार्गणा में कितने कितने गुणस्थानों का समभव है और प्रत्येक-मार्गणा-वर्ती जीवों की सामान्य रूप से तथा गुणस्थान के विभागानुसार कर्म-बन्ध-सन्धन्धिनी कितनी योग्यता है इस का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है।

मार्गणा, गुणस्थान और उन का पारस्परिक अन्तर।

(क) मार्गणा—ससार में जीव-राशि अनन्त है। सब जीवों के बाह्य और आंतरिक जीवन की बनावट में जुदाई है। क्या दिल-डौल, क्या इन्द्रिय-रचना, क्या रूप-रंग, क्या चाल-हाल, क्या विचार शक्ति, क्या मनो बल, क्या विकारजन्य भाव, क्या चारित्र, सब विषयों में जीव एक दूसरे से भिन्न हैं। यह भेद विस्तार कर्मजन्य—औदयिक, औपशमिक, क्षयापशमिक, और क्षाणिक—भावों पर तथा सहज पारिणामिक भाव पर अयलम्बित है। भिन्नता की गहराई इतनी ज्यादा है कि इस से सारा जगत् आप ही अजायबघट घना हुआ है। इन अनन्त भिन्नताओं को शानियों ने सक्षेप में चौदह विभागों में विभाजित किया है। चौदह विभागों के भी अन्तर विभाग

न किसी प्रकार से पाइ जाती हैं—सभी ससारी जीव एक ही समय में प्रत्येक मार्गणा में वर्तमान पाये जाते हैं । इससे बलदा गुणस्थान एक समय में एक जीव में एक ही पाया जाता है—एक समय में सब जीव किसी एक गुणस्थान के आधिकारी नहीं बन सकते, किन्तु उनका कुछ भाग ही एक समय में एक गुणस्थान का आधिकारी होता है । इसी बात को योंभा कह सकते हैं कि एक जीव एक समय में किसी एक गुणस्थान में ही वर्तमान होता है परन्तु एक ही जीव एक समय में चौदहों मार्गणाओं में वर्तमान होता है ।

पूव पूर्व गुणस्थान को छोड़ कर उत्तरोत्तर गुणस्थान को प्राप्त करना आध्यात्मिक विकास को बढ़ाना है, परन्तु पूर्व पूर्व मार्गणा को छोड़ कर उत्तरोत्तर मार्गणा न तो प्राप्त ही की जा सकती है और न इससे आध्यात्मिक विकास ही सिद्ध होता है । विकास की चरहरी भूमिका तक पहुँचे हुये—चैतन्य प्राप्त—जीव में भी कषाय के सिधाय सब मार्गणाएँ पायी जाती हैं पर गुणस्थान केवल चरहवाँ पाया जाता है । अन्तिम भूमिका-प्राप्त जीव में भी तीन चार को छोड़ सब मार्गणाएँ होती हैं जो कि विकास की धापक नहीं हैं, किन्तु गुणस्थान उस में केवल चौदहवाँ होता है ।

पिछले कर्मग्रन्थों के साथ तीसरे कर्मग्रन्थ की सगति—  
दुःख है क्योंकि उसे कोई भी नहीं चाहता । इसका सधवा

नाश तभी हो सकता है जब कि उस के असली कारण का नाश किया जाय । दुःख की असली जड़ है कर्म ( वासना ) । इसलिए उस का विशेष परिज्ञान सब को करना चाहिये, क्योंकि कर्म का परिज्ञान विना किये न तो कर्म से छुटकारा पाया जा सकता है और न दुःख से । इसी कारण पहले कर्मग्रन्थ में कर्म के स्वरूप का तथा उस के प्रकारों का मुद्दिगम्य वर्णन किया है ।

कर्म के स्वरूप और प्रकारों को जानने के बाद यह प्रश्न होता है कि क्या कदाप्रहि-सत्याप्रही, अजितेन्द्रिय जितेन्द्रिय, अशान्त शांत और चपल स्थिर मन प्रकार के जीव अपने अपने मानस क्षेत्र में कर्म के बीज को बराबर परिमाण में ही समझ करते और उनके फल को चरते रहते हैं या न्यूनार्थिक परिमाण में ? इस प्रश्न का उत्तर दूसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है । गुणस्थान के अनुसार प्राणीवर्ग के चौदह विभाग कर के प्रत्येक विभाग की कर्म-विषयक बन्ध-उद्दय-उदीरणा-सत्ता-सम्बन्धिनी योग्यता का वर्णन किया गया है । जिस प्रकार प्रत्येक गुणस्थानवाले अनेक शरीरधारियों की कर्म-बन्ध-आदि-सम्बन्धिनी योग्यता दूसरे कर्मग्रन्थ के द्वारा मालूम की जाती है इसी प्रकार एक शरीरधारी की कर्म बन्ध-आदि सम्बन्धिनी योग्यता, जो भिन्न भिन्न समय में आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा अपकर्ष के अनुसार बदलती रहती है उस का ज्ञान भी उस क-







# तीसरे कर्मग्रन्थ की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
भगवान् और विश्व-कथन	८
शकट का विषे जययागो मूर्तियों का संघ	३
तरुणगति का बन्ध-स्वामित्व	४
सामान्य शकट का तथा राजावधा आदि शकट त्रय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र	६
पञ्चपदा आदि शकट-त्रय का बन्धस्वामित्व- यन्त्र	१०
तिर्येण्यगति का बन्धस्वामित्व	११-१४
सातवें शकट का बन्धस्वामित्व-यन्त्र	१३
बयांत्र तिर्येण्य का बन्धस्वामित्व यन्त्र	१७
मनुष्यगति का बन्धस्वामित्व	१८
बयांत्र मनुष्य का बन्धस्वामित्व-यन्त्र	२० २१
सन्धि कथयाप्त तिर्येण्य तथा मनुष्य का बन्धस्वामित्व-यन्त्र	२२
देवगति का बन्ध-स्वामित्व	२३ २६ २७

विषय	पृष्ठ	गाथा
सामान्य देवगति का तथा पहले ब्रूंसरे		
देवलोक के देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र	२४	
भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों का		
बन्धस्वामित्व-यन्त्र	२५	
नवधे से लेकर ४ देवलोक तथा नव प्रैवेयक		
के देवों का बन्धस्वामित्व यन्त्र	२८	
अनुत्तराविमानवासी देवों का बन्धस्वामित्व-		
यन्त्र	२६	
इन्द्रिय और काय मार्गणा का बन्धस्वामित्व	३०	११-१२-१३
पकेन्द्रिय आदि का बन्धस्वामित्व यत्र	३३	
योग मार्गणा का बन्ध-स्वामित्व	३४ ५०	१३-१७
गति त्रस का लक्षण	३५	
नयम, ज्ञान और दर्शन मार्गणा का बन्ध-		
स्वामित्व	५०	१७ १८
मन्यकत्व मार्गणा का बन्ध स्वामित्व	५६	१६
उपशम मन्यकत्व की विशेषता	५८	२०
लेख्या का बन्धस्वामित्व	६१	२१-२२
भव्य, सञ्ज्ञी और आहारक मार्गणा का		
बन्ध-स्वामित्व	७०	२३
लेख्याओं में गुणस्थान	७३	२४

# अनुवाद मे प्रमाणरूपसे निर्दिष्ट पुस्तकें

भगवती सूत्र ।

उत्तराख्ययन सूत्र । ( आगमोदय समिति, सुरत )

श्रीपपातिक सूत्र । ( आगमोदय समिति, सुरत ) ।

आचाराग नियुक्ति ।

मत्त्वार्थ भाष्य ।

पञ्चसमह ।

चन्द्रीय समहणा ।

श्रीधा नदान कर्मप्रथ ।

प्राचीन षष्प स्वामित्व ( प्राचीन सप्तमस्य कर्मप्रथ ) ।

लोकप्रकाश ।

जीवविजयजी-टवा ।

जपसोमस्त्रि-टवा ।

सर्वाभेसिद्धि टीका ( पूज्यपान्स्वामि-कृत ) ।

गोम्मटसार-जीवकाण्ड तथा कमकाण्ड ।

पातञ्जल यागसूत्र ।

योगवासिष्ठ ।

श्री देवेन्द्रस्वरि विरचित

बन्धस्वामित्व नामक तीसरा कर्मग्रन्थ ।

( हिन्दी-भाषानुवाद-सहित । )

“ भगल और विषय कथन । ”

बन्धविहायविमुक्त, बन्धिय सिरिख्दमाणजिणचन्द्र ।  
गइयाईसु बुन्ध, समासयो बधसामित्त ॥ १ ॥

बन्धविधानविमुक्त बन्धित्वा थीवर्धमानजिनचन्द्रम् ।  
गत्यादिपु बध्वे समासतो बन्धस्वामित्तम् ॥ १ ॥

अर्थ—भगवान् वीरनिनेश्वर जो चन्द्र के समान सौन्दर्य है, तथा जो कर्म बन्ध के विधान में निवृत्त हैं—कर्म को नहीं घाँघते—उन्हें नमस्कार करके गति आदि प्रत्येक मार्गणा में बतमान जीवों के बन्धस्वामित्व को मैं सक्षेप से कहूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ ।

बन्ध—\*मिथ्यात्व आदि हेतुओं से आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म-योग्य परमाणुओं का जो सम्बन्ध, उसे बन्ध कहते हैं ।

# अनुवाद में प्रमाणरूपमें निर्दिष्ट पुस्तकें।

भगवद्गीता सूत्र ।

उत्तराध्ययन सूत्र । ( आगमोदय समिति, मुम्बई ) ।

श्रीपपातिव सूत्र । ( आगमोदय समिति, मुम्बई ) ।

आचाराग निबन्ध ।

तत्त्वाद्यं भाष्य ।

पञ्चसमह ।

बन्धाय भगवद्गीता ।

श्रीधरा तवीन कर्मग्रन्थ ।

प्राचीन कर्मग्रन्थ-स्वामित्व ( प्राचीन तीसरा कर्मग्रन्थ ) ।

लोकप्रकार ।

जीवविनयन-श्रुति ।

अयसोमसूत्र-श्रुति ।

सर्पार्थसिद्धि टाका ( पूज्यपादस्वामि-कृत ) ।

गोम्मटसार-नीवकाण्ड तथा कर्मकाण्ड ।

पातञ्जल योगसूत्र ।

योगशास्त्र ।

“ सकेत के लिये उपयोगी प्रकृतियों का  
दो गाथाओं में समूह । ”

जिनसुरविजवाहार दु देवावय नरयसुहुम विगलतिग ।  
एगिदिधावरायव-नपुमिच्छ हुडछेवढ ॥ २ ॥

जिनसुरवैक्रियाहारकद्विकदेवायुष्क नरकसूक्ष्मविकत्रिकम् ।  
एकेन्द्रियस्थापरातप नपुमिध्याहुण्डसेवातम् ॥ २ ॥

अणमज्झागिइ सघय-ण कुखग नियइत्थिदुहग थीणतिग  
उज्जेयतिरिदुग तिग्गि नराउनरउरलदुगरिसड ॥ ३ ॥

अनमध्याकृतिसहनन सुखग नीचस्त्रीदुर्ग स्त्यानद्वित्रिकम् ।  
उद्योततिर्यग्द्विक तिर्यग्गरायुर्नरौदारिक द्विक ऋपभम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिननामकर्म (१), देव द्विक—देवगति, देव  
आनुपूर्वी—(३), वैक्रिय-द्विक—वैक्रियशरीर, वैक्रियअगोपाग—  
(५), आहारकद्विक—आहारकशरीर, आहारकअगोपाग—(७),  
देवआयु (८), नरकत्रिक—नरकगति, नरकआनुपूर्वी, नरक  
आयु—(११), सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म, अपर्याप्त, और साधारण  
नामकर्म—(१४) विकलत्रिक—द्वान्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय—  
(१७), एकेन्द्रियजाति (१८), स्थावरनामकर्म (१९),  
आतपनामकर्म (२०), नपुष्कवेद (२१), मिध्यात्व (२२),  
हुण्डस्थान (२३), सेवासहनन (२४) ॥ २ ॥ अनन्तानु-  
धरि उद्योत—अनन्तानुधरि गति, मान, मान और लोभ

मार्गणा—गति आदि तिन अवस्थानों को लेकर जीव  
 म गुरुस्थान, जीवस्थान आदि की मार्गणा-विचारणा-की  
 जाती है उन अवस्थानों को मार्गणा कहते हैं ।

मार्गणाओं के मूल भेद १४ और उत्तर भेद ६२ हैं  
 जैसे—पहली गतिमार्गणा के ४, दूसरी इन्द्रियमार्गणा के ५,  
 तीसरी पापमार्गणा के ६, चौथी योगमार्गणा के ३, पाचवीं  
 षडमार्गणा के ३, छठवीं कपायमार्गणा के ४, सातवीं ज्ञान  
 मार्गणा के ८, आठवीं समयमार्गणा के ७ नववीं दर्शनमार्गणा  
 के ४, दसवीं क्षेत्र्यामार्गणा के ६, ग्यारहवीं भव्यमार्गणा के २,  
 बारहवीं सन्नपत्वमार्गणा के ६, तेरहवीं मज्झिमार्गणा के ३,  
 और चौदहवां आहारकमार्गणा के २ भेद हैं । कुल ६२  
 भेद हुए

बन्धस्वामित्व—कर्मबन्ध की योगता को ' बन्धस्वामि-  
 त्व' कहते हैं । जो जीव जितने कर्मों को बाँध सकता है  
 वह उतने कर्मों के बाँध का स्वामी कहलाता है ॥ १ ॥

\* " गह इदिण य काये जोण वेण क्खत्तव नाणे य ।

सज्जम दमय्जेसो भवममो खेच्चि चाहारे ॥ ६ ॥

( ५ वा बन्धालय )

+ २२ का विचारणम चान्त क तिय चाय क्खत्तव को दल  
 मे आइयो एव म अ उ द्या ।

“ सन्नेत के लिये उपयोगी प्रकृतियों का  
दो गाथाओं में समूह । ”

जिणसुर विडवाहार दु देवाउय नरयसुहुम विगलातिग ।  
एगिदियावरायव-नपुमिच्छ हुडछेवद्व ॥ २ ॥

जिनसुरवैक्रियाहारकद्विकदेवायुफु नरकसूक्ष्मविकलात्रिकम् ।  
एकेन्द्रियस्थावरातप नपुमिस्थाहुण्डसेवार्तम् ॥ २ ॥

अयमज्झागिइ सघय-ण कुखग नियइत्थिदुइग थीणतिग  
उज्जायतिरिदुग तिरि नराउनरउरलदुगरिसद्व ॥ ३ ॥

अनमग्घाहृतिसहनन रुसग नीचस्त्रीदुर्मग स्थानाद्वित्रिकम् ।  
उघोततिर्यग्द्विक तिर्यग्नरायुर्नरौदारिक द्विक अयमम ॥ ३ ॥

अर्थ—जिननामकर्म (१), देव द्विक-देवगति, देव  
आनुपूर्वी-(३), वैक्रिय-द्विक-वैक्रियशरीर, वैक्रियअगोपाग-  
(५), आहारकद्विक-आहारकशरीर, आहारकअगोपाग-(७),  
देवआयु (८), नरकत्रिक-नरकगति, नरकआनुपूर्वी, नरक-  
आयु-(११), सूक्ष्मत्रिक-सूक्ष्म, अपर्याप्त, और साधारण-  
नामकर्म-(१४) विकलात्रिक-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय-  
(१७), एकेन्द्रियजाति (१८), स्वावरजामकर्म (१९),  
आतपनामकर्म (२०), नपुस्ववेद (२१), मिध्यात्व (२२),  
हुण्डमस्थान (२३), मेकानसत्ता (२४) ॥ २ ॥ अनन्तान्  
वधि अनु-अनन्तान्तराद्या राघ, मान मान और लोभ



(१८), मध्यमस्थान चतुष्क—न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि,  
 रामन, कुञ्ज—(३०), मध्यममहनन-चतुष्क—शुभमनाराच,  
 नाराच, अधनाराच, चोनिना—(३६), अशुभाविहायोगति(३७),  
 नाचगोत्र (३८), सा षड (३९), दुर्भग त्रिक—दुर्भाग, दु स्वर,  
 अनादयनामकम—(४०), स्यानर्द्धि त्रिक—निद्रानिद्रा, प्रचला  
 प्रचला, स्यानर्द्धि—(४५), उग्रोतनामकम (४६), तिर्यञ्च  
 द्विक—तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चस्थानुपूर्वी—(४८), तिर्यञ्चमायु  
 (५६), मनुष्य आयु, (५०), मनुष्य द्विक—मनुष्यगति,  
 मनुष्यत्रानुपूर्वा—(५०), आदारिक द्विक—आदारिक शरीर,  
 आदारिक अग्रपाग—(५४), आर बज्जुशुभमनाराचसठनन(५५)।  
 इन प्रकार ५५ प्रकृतियाँ हुई ॥ ३ ॥

भावार्थ—उक्त ५५ कर्म प्रकृतियों का विशेष उपयोग इस  
 कर्म-ग्रन्थ में संकेत व लिये है। यह संकेत इस प्रकार है —

जिसी अभिमत प्रकृति के आग जिस सख्या वा कथन  
 किया हो, उस प्रकृति से लेकर उतनी प्रकृतियों का प्रहण  
 उक्त ५५ कर्म प्रकृतियाँ में से किया जाता है। उदाहरणार्थ—  
 'मुररकानर्द्धिगति' यह संकेत देवद्विक स लेकर आरुप पयन्त  
 ६ प्रकृतियाँ का बोधक है ॥ ० ॥ ॥३ ॥

“चाँदह मार्गणाओं में से गतिमार्गणा को लेकर नरक गति का  
बन्धस्वामित्व चार गाथाओं से कहते हैं —”

सुरङ्गुण्योसवज्ज, इगसउ ओहेण वधहिं निरया ।

तित्थ त्रिणा पिन्धि सय, सासाणे नपु-चउ त्रिणा छनुई ॥४॥

सुरैकोनविंशतिनर्जमेकशतमोधेन वधन्ति निरया ।

तीर्थंविनामिज्यात्पेशत सास्यादने नपुंसचतुष्क विनापण्यति ॥४॥

अर्थ—नारक जीव, बन्धयोग्य १२० कर्म प्रकृतियों में से १०१ कर्म प्रकृतियों को सामान्यरूप से बाँधते हैं, क्योंकि वे सुरद्विक से लेकर आतपनामकर्म पर्यन्त १६ प्रकृतियों को नहीं बाँधते । पहले गुणस्थान में वर्तमान नारक १०१ में से तीर्थकर नामकर्म को छोड़ शेष १०० प्रकृतियों को बाँधते हैं ।

दूसरे गुणस्थान में वर्तमान नारक, नपुंसक आदि ४ प्रकृतियों को छोड़ कर उक्त १०० में से शेष ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ ।

शोधबन्ध—किसी खास गुणस्थान या खास नरक की विवक्षा किये बिना ही सब नारक जीवों का जो बन्ध कहा जाता है वह उनका ‘सामान्य-बन्ध’ या ‘शोध-बन्ध’ कहलाता है ।

विशेषण—किसी स्वामिगुणस्थान या किन्हीं ग्रास नरक को लेकर नारकों में जो बन्ध कहा जाता है वह उनका 'विशेष बन्ध' कहलाता है। जैसे यह कहना कि मिथ्यात्वगुण स्थानवर्ती नारक १०० प्रकृतियाँ को बाँधते हैं इत्यादि।

इस तरह प्रागे अन्य मार्गशास्त्रों में भी सामान्यबन्ध और विशेषबन्ध का मतलब समझ लेना।

नरकगति में सुरद्विष आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, क्योंकि जिन स्थानों में वहाँ १६ प्रकृतियों का उदय होता है तब ही नरकगति में से निकल कर उन स्थानों में नहीं उपजते। वे उदय स्थान इस प्रकार हैं —

वैश्वदेविक, नरकत्रिक, देवत्रिक—इनका उदय देव तथा नारक का हाता है। मूढम नामकम सूक्ष्मकेन्द्रिय में, अपर्याप्त नामकम अपत्याप्त तिर्यक मनुष्य म, माघारण्य नामकम माघारण्य वनस्पति में, एकेन्द्रिय, स्यावर और आतप नामकम एकेन्द्रिय म और विकल्पत्रिक द्वौन्द्रिय आदि में उदयमान होते हैं। तथा आहारक द्विक का उदय पारित्रसम्पन्न शान्ति-धारी मुनि को होता है।

मन्वन्त्री ही तार्यकर नाम कर्म के  
इसलिये मिथ्यात्वी नारक उसे बाँध नहीं

नपुंसक, मिथ्यात्व, हुण्ड और मेवार्त इन ४ प्रकृतियों का साम्नादन गुणस्थानवाले नारक जीव बाँध नहीं सकते, क्योंकि उनका बन्ध मिथ्यात्व के उदयकाल में होता है, पर मिथ्यात्व का उदय साम्नादन के समय नहीं होता ॥ ४ ॥

विष्णु अण-छवीस मीसे, प्रिसयारि सममि जिणनराउजुया ।  
इय रयणाइसु भगो, पफाइसु तित्थयरहीणो ॥ ५ ॥

विनाऽनपड्विंशति मिथ्रे द्वासप्तति सम्यक्त्वे जिननरायुर्यता ।  
इति रत्नादिपु भगः पङ्कादिपु तीर्थकरहीन ॥ ५ ॥

अर्थ—तीसरे गुणस्थान में वर्तमान नारक जीव ७० प्रकृतियों को बाधते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त ६६ में से अनन्तानु-बन्धि-चतुष्प से लेकर मनुष्प-आयु-पर्यन्त २६ प्रकृतिया को वे नहीं बाँधते । चौथे गुणस्थान में वर्तमान नारक उक्त ७० तथा जिन नामकर्म और मनुष्प आयु, इन ७२ प्रकृतियों को बाधते हैं । इस प्रकार नरकगति का यही सामान्य बन्ध विधि रत्नप्रभा आदि तीन नरकों के नामको को चारों गुणस्थानोंमें लागू पड़ता है । एकप्रभा आदि तीन नरकों में भी तीर्थकर नामकर्म के सिवाय वही सामान्य बन्ध विधि सम-झना चाहिये ॥ ५ ॥

विशेषबन्ध—किसी खास मुख्यस्थान या किसी खास नरक को लेकर नारक में जो बन्ध कहा जाता है वह उनका 'विशेष बन्ध' कहलाता है। जैसे यह कहना कि मिथ्यात्वगुण स्थानवर्ती नारक १०० प्रकृतियों को बाँधते हैं इत्यादि।

इस तरह आगे अन्य मार्गशास्त्रों में भी सामान्यबन्ध और विशेषबन्ध का मालव्य समझ लेना।

नरकगति में सुरद्विक आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, क्योंकि जिन स्थानों में वह १६ प्रकृतियाँ का उदय होता है तारक जीव नरकगति में से निकल कर उन स्थानों में नहीं उपजते। वे उदय स्थान इस प्रकार हैं—

वैक्यद्विक, नरकत्रिक, द्वात्रिक—इनका उदय देव तथा नारक को होता है। मूढम नामकर्म मूढमएकेन्द्रिय में, अपर्याप्त नामकर्म अपर्याप्त तिर्यंच मनुष्य में, साधारण नामकर्म साधारण जनस्थिति में, एकेन्द्रिय, स्थानर और आद्यप नामकर्म एकेन्द्रिय में और निकलत्रिक द्वौन्द्रिय आदि में उदयमान होते हैं। तथा आहारक द्विक का उदय चारित्र्यसम्पन्न क्षुधि धारी मुनि को होता है।

सम्बद्धता ही तीर्थकर नाम कर्म के बन्ध के अधिकारी हैं, इमाक्षेये मिथ्यात्वी नारक उसे बाँध नहीं सकते।

# निय नरक का तथा रत्नभादि नरक त्रय का बन्धस्वाप्तिक-यन्त्र ।

गुणस्थानों के नाम	नरक प्रकृतियों	सर्वनाश प्रकृतियों	नानावर्णियों	वर्णानुवर्णियों	सर्वनाशकम्	संनिवृत्तकम्	सर्वनाशकम्	संनिवृत्तकम्	सर्वनाशकम्	संनिवृत्तकम्	सर्वनाशकम्	संनिवृत्तकम्	सर्वनाशकम्	संनिवृत्तकम्
घटे	१०१	१२	१	२	२	२६	२०	२	२	२६	२०	२	२	२६
मिथ्यात्व में	१००	२०	४	२	२	२६	४२	२	२	२६	४२	२	२	२६
सारवाहन में	२६	२०	२६	२	२	२६	४७	२	२	२६	४७	२	२	२६
सिद्ध में	७०	२०	०	२	२	२६	३२	०	२	२६	३२	०	२	२६
अविरत में	७२	४८	०	२	२	२६	३३	१	२	२६	३३	१	२	२६

१ बोधन योग्य २ नहीं पाधने या य ३ दध विच्छेद याय अय-थ और यधविच्छेद म पतर यह हे कि किली पियहित गुणस्व न नी अयन्त् प्रकृतियों वे ह जिनका यध उस गुणस्थान में नहीं होता जैसे- भरशगति में मिथ्यात्व गुणस्थान में २० प्रकृतियों अर्धध है । परन्तु विवर्धित गुणस्थानकी बन्ध विच्छेदय

भाषार्थ—पक्षप्रभा आदि तीन नरकों का क्षेत्रप्रमाण ही ऐसा है कि जिससे उनमें रहने वाले नारक जीव सम्यक्त्वा होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म को बाँध नहीं सकते । इस उनका सामान्यरूप से तथा विशेषरूप से पढ़ले गुणस्थान म १०१ प्रकृतिया का, दूसरे में ६६, तीसरे में ८० और चौथे में ७१ का वष है ॥ ५ ॥

अजिणमणुग्गाड श्रोहे, सप्तमिए नरगुच्च विष्णु मिच्छ ।  
इगनवई सासाणे, निरिआड नपुसचउवज्ज ॥ ६ ॥

अजिनमनुजायुगेपे सप्तम्या मग्गिकोश विना विव्यात्थे ।  
एरुनवतिस्सासादन तियगायुपुमकचनुक्कउवम् ॥ ६ ॥

अर्थ—सातव नरक के नारक, सामान्यरूप से ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं, क्योंकि नरकगति की सामान्य-वष योग्य १०१ प्रकृतिया में स जिन नामकर्म तथा मनुष्य आय को वे नहीं बाँधत । इसा नरक क मिथ्यात्थी नारक, उक्त ६६ में स मनुष्य गति, मनुष्य आनुपूर्ति तथा चरुचगोत्र का छोड़, ६६ प्रकृतिया को बाँधते हैं । और साम्वादन गुणस्थान वर्ती नारक ६१ प्रकृतियों को बाँधत है, क्यों के उक्त, ६६ में से तियंचप्रातु, नपुमकवेद, मिथ्यात्त, हुरदसस्यान और सेवार्त-सहनन, इन ५ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधत ॥ ६ ॥

# सामान्य नरक का तथा रत्नप्रभादि नरकत्रय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थानों क नाम	व दस प्रकृतियाँ	सर्वत्रय प्रकृतियाँ	सिद्धिप्रद प्रकृति	सिद्धिप्रद प्रकृति	सिद्धिप्रद प्रकृति	सिद्धिप्रद प्रकृति	सिद्धिप्रद प्रकृति	सिद्धिप्रद प्रकृति	सिद्धिप्रद प्रकृति	सिद्धिप्रद प्रकृति	सिद्धिप्रद प्रकृति	सिद्धिप्रद प्रकृति	सिद्धिप्रद प्रकृति
शोध से	१०१	१६	१	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
मिथ्यात्व में	१००	२०	४	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
सारायादर में	६६	२४	२६	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
मिश्र स	७०	२०	०	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
अविरत में	७२	४८	०	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२

१ वाचन याग २ नहीं वाचने याग्य ३ दध विच्छेद याग्य ४ अथर्व्य और दधविच्छेद में पन्तर यह है कि किसी प्रियवृत्त गणस्थान में ही अथर्व्य प्रकृतियाँ वे हैं जिनका दध उम गुणस्थान में नहीं होता जैसे- अरुणगति में मिथ्यात्व गुणस्थान में २० प्रकृतियाँ अदृश्य हैं । परन्तु विवक्षित गुणस्थानों की बन्ध विच्छेद



प्रधाना आदि नरक श्रय का गन्धस्वामित्व यन्त्र ।

गुणस्थानों के नाम	पूज्य महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव	शिव महादेव
शिव से	१००	२०	०	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५
मिथ्यात्व में	१००	२०	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५
साक्षात्कार में	१५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५
सिद्ध में	७०	२०	०	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५
अविरल में	७१	७१	०	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५

यूयों वे हे जो उस गुणस्थान में बांधी जाती है पर आगक गुणस्थान में नहीं बांधी जाती जिस-  
 गति में मिथ्यात्व गुणस्थान में सा हाता है पर गति में मिथ्यात्व गुणस्थान में बांधी जाती है जिस-  
 का बाप मिथ्यात्व गुणस्थान में सा हाता है पर गति में मिथ्यात्व गुणस्थान में बांधी जाती है जिस-

प्रणचउवीसविरहिया, सनरदुगुन्चा य सयरि मीसदुगे ।  
सतरसउ ओहि मिच्छे, पज्जतिरिया विणु जिणाहार ॥७॥

अनचतुर्विंशतिविरहिता सनरादिकोच्चा च सप्तातिमिश्राट्टिके ।  
सप्तदशशतमोघे मिध्यात्वे पयाप्ततिर्यंचो जिना जिनाहारम् ॥७॥

अर्थ—पूर्वोक्त ६१ में मे अनन्तानुबन्धि-चतुष्क से लेकर तिर्यश्च द्विक-पर्यन्त ०४ प्रकृतियों को निकाल देने पर शेष ६७ प्रकृतियाँ रहती हैं। इनमें मनुष्यगति, मनुष्यआनुपूर्वी तथा उच्चगोत्र-तीन प्रकृतियों को मिलाने से कुल ७० प्रकृतियाँ होती हैं। इनको तीसरे तथा चौथे गुणस्थान में वर्तमान सातवें नरक के नारक बाधते हैं। ( तिर्यश्चगति का बन्धस्वामित्त्र ) अर्थात् तिर्यश्च सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों को बाधते हैं, क्योंकि जिननामकर्म तथा आहारक द्विक तीन प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते ॥ ७ ॥

भावार्थ—पूर्व पूर्व नरक से उत्तर उत्तर नरक में अध्य-सायों की श्रद्धा इतनी कम हो जाती है कि मनुष्य-द्विक तथा उच्चगोत्ररूप जिन पुण्यप्रकृतियों के बन्धक परिणाम पहले नरक के मिथ्यात्वों नारकों को हो सकते हैं उनके बन्ध योग्य परिणाम सातवें नरक में तीसरे, चौथे गुणस्थान के सिवाय अन्य गुणस्थान में असम्भव हैं। सातवें नरक में उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम वे ही हैं जिनसे कि एक तीन प्रकृतियों का बन्ध किवा

गुणस्थानों के नाम और उनके गुण का संघर्षात्मित्व यन्त्र ।

गुणस्थानों के नाम	वृषभ प्रकृति	मेष प्रकृति	मिथुन प्रकृति	वृश्चिक प्रकृति	कर्कट प्रकृति	सिंह प्रकृति	कन्या प्रकृति	तूला प्रकृति	वृश्चिक प्रकृति	मिथुन प्रकृति	वृषभ प्रकृति	मेष प्रकृति	वृश्चिक प्रकृति	कर्कट प्रकृति	सिंह प्रकृति	कन्या प्रकृति	तूला प्रकृति	वृश्चिक प्रकृति	मिथुन प्रकृति	वृषभ प्रकृति	मेष प्रकृति	
आध से	१००	२०	०	२	१	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
मिथ्यात्व से	१००	२०	४	२	१	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
साक्षात्पान से	११	२४	२४	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
निध से	७०	५०	०	२	१	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
अधिरत से	७१	५१	०	२	१	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२

प्रकृतियों के हैं जा उस गुणस्थान में बाँधी जाती हैं पर आगक गुणस्थान में जहाँ बाँधी जाती हैं जिन-  
 मरुगति में मिथ्यात्व गुणस्थान की बाध-विच्छेद प्रकृतियों का है । इसका मतलब यह है कि उन  
 प्रकृतियों का बाध मिथ्यात्व गुणस्थान में जो बाध है पर आग के गुणस्थान में नहीं ।

एचउवीसविरहिया, सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे ।

तरसउ ओहि मिच्छे, पज्जतिरिया विणु जिणाहार ॥७॥

अनचतुर्विंशतिविरहिता सनरद्विकोच्चा च सप्ततिमिथादिके ।

सप्तदशशतमोघे मिध्यात्वे पर्याप्ततिर्यंचो विना जिनाहारम् ॥७॥

अर्थ—पूर्वोक्त ६१ मे से अनन्तानुबन्धि चतुष्क से लेकर तिर्यश्च द्विक-पर्यन्त २४ प्रकृतियों को निकाल देने पर शेष ६७ प्रकृतियाँ रहती हैं। इनमें मनुष्यगति, मनुष्यप्राणुपूर्वी तथा उच्छगोत्र तीन प्रकृतियों को मिलाने से कुल ७० प्रकृतियाँ होती हैं। इनको तीसरे तथा चौथे गुणस्थान में वर्तमान सातवें नरक के नारक बाधते हैं। ( तिर्यश्चगति का बन्धस्थामित्य ) पर्याप्त तिर्यश्च सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों को बाधते हैं, क्योंकि जिननामकम तथा आहारक द्विक इन तीन प्रकृतियों को वे नहीं बाधते ॥ ७ ॥

भावार्थ—पूर्व पूर्व नरक से उत्तर उत्तर नरक में अध्य-  
यसायों की श्रद्धि इतनी कम हो जाती है कि मनुष्य द्विक तथा उच्छगोत्ररूप जिन पुण्यप्रकृतियों के बन्धक परिणाम पहले नरक के मिध्यात्वी नारकों को हो सकते हैं उनके ग्रन्थ योग्य परिणाम सातवें नरक में तीसरे, चौथे गुणस्थान के सिवाय अन्य गुणस्थान में असम्भव हैं। सातवें नरक में उत्कृष्ट विशुद्ध विद्यागम वे ही हैं जिनसे कि एक तीन प्रकृतियों का बन्ध किया

जा सरता है। अतएव वसमें सनस ६कृष्ट पुर्य प्रकृतियाँ  
उक्त तान ही हैं।

यद्यपि सातवें नरक के नारक-जीव मनुष्यआयु को नहीं  
गँधते तथापि वे मनुष्यगति तथा मनुष्यआनुपूर्वी नामकर्म को  
गँध सकते हैं। यह नियम नहीं है कि “आयुका बन्ध, गति  
और आनुपूर्वी नामकर्म क बन्ध के साथ हा होना चाहिये।”



सातों नरक का दण्डस्वामित्व—यन्त्र

शुद्धस्थाग क नाम	दण्ड प्रकृतियाँ	दण्ड स्व प्रकृतियाँ	१ धीनरुप म०	क्षानापरकृतियाँ	वृथानारकृतियाँ	धैर्यकृतियाँ	संज्ञिकीयकर्म	अधिपतम	गोपकम	शोककर्म	नरकप्रकर्म	सुखप्रकृतियाँ
ओपसे	१६	२१	०	५	३	२	२३	१	४३	२	५	१०
मिथ्यात्व में	१६	२४	५	५	५	५	२६	१	४०	१	५	१५
सादृशदान में	११	२६	२४	५	६	२	२४	०	४५	१	५	१०
सिद्ध में	७०	२०	०	५	५	२	१६	०	३२	१	५	१०
अधिरत में	७०	५०	०	५	६	२	१६	०	३२	१	५	१०

( तिर्यञ्चगति का बन्धस्वामित्वा ) सम्यक्त्वो हाते हुये भी तिर्यञ्च अपने जन्म दरभावसे ही जिननामकर्म को बाँध न सके, व आहारक द्विक का भी नहीं बाँधते, इसका कारण यह है कि समका बन्ध, चारित्र धारण करनेवालों को ही हो सकता है, पर तिर्यञ्च, चारित्र के आधारार नहीं हैं । अतएव उनसे सामान्य बन्धम उक्त ३ प्रकृतियों की गिनता नहीं की है ॥७॥

विष्णु नरयसोल सासणि, सुराड अणएगतीस त्रिष्णु मीसे ।  
ससुराड सपरि समे, वीयरसाए त्रिणा दमे ॥ ८ ॥

त्रिना नरकपोडस सासादने सुरायुरनेकात्रिशत विगा मिथ ।

ससुरायु सप्तति सम्यक्त्वे द्वितीयकपायात्रिना देशे ॥ ८ ॥

अर्थ—दूसरे गुणस्थान में वर्तमान पर्यन्त तिर्यञ्च १०१ प्रकृतिया को बाँधते हैं, क्योंकि पुरात ११७ में से नरक-त्रिण से लेकर सप्तति पर्यन्त १६ प्रकृतिया को व नहीं बाँधते । तिसरे गुणस्थान म वे ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं, क्योंकि उक्त १०१ में स अन्तानुग्रन्वि-चतुष्क से लेकर वज्रपुत्रम नाराचसहनन पर्यन्त ३१ तथा देवधायु इन ३० प्रकृतियों का बन्ध उनसे नहीं होता । चौथे गुणस्थान म व उक्त ६६ तथा देवधायु-उल ७० प्रकृतिया का बाँधते हैं । तथा पाचये गुण स्थान म ६६ प्रकृतिया को बाँधते हैं, क्योंकि उक्त ७० में से ४ अप्रत्याश्यावरण समाया ना बन्ध उक्त नहीं होता ॥ ८ ॥

भावार्थ—चौथे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त तिर्यञ्च देवआयु को बाधते हैं परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान उस नहीं बाँधते, क्योंकि उस गुणस्थान के सम्यक् आयु बाँधने के योग्य प्रध्यवसाय ही नहीं होते । तथा उम गुणस्थान म मनुष्यगति-योग्य ६ ( मनुष्य द्विक, औदात्तिक-द्विक, यज्ञसृष्ट्य-भनाराचसहनन और मनुष्य आयु ) प्रकृतियों को भी वे नहीं बाँधते । इनका कारण यह है कि चौथे गुणस्थान की तरह तीसरे गुणस्थान के सम्यक्, पर्याप्त मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों ही देवगति योग्य प्रकृतियों को बाँधते हैं, मनुष्यगति-योग्य प्रकृतियों को नहीं । इस प्रकार अनन्तानुबन्धि-चतुष्क से लेकर २५ प्रकृतियों—जिनका बन्ध तीसरे गुणस्थानमें किमी को नहीं हाता—उन्हें भी वे नहीं बाँधते । इससे देवआयु १, मनुष्यगति योग्य उक्त ६ तथा अनन्तानुबन्धि-चतुष्क आदि २५—सन्मिलाकर ३२ प्रकृतियों को उपर्युक्त १०१ में से घटाकर शेष ६९ प्रकृतियों का बन्ध पर्याप्त तिर्यञ्चों को मिश्रगुणस्थान में होता है । चौथे गुणस्थान में उनको देवआयु के बन्ध का सम्भव होने के कारण ७० प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है ।

९—“ ममा मिच्छां टली आठ कधिपि न त्तरं ”

इति धर्मात् ‘ विसृजे चाठसमय ’ इत्यादि

( साम्प्रसार—कर्म०—भा० ०२ )



परन्तु पाचवें गुणस्थान में उनको ६६ प्रकृतियाँ का बंध माना गया है, क्योंकि उस गुणस्थान में ४ अप्रत्याख्यानारण कपाय का बन्ध नहीं होता। अप्रत्याख्यानारण-कपाय का बंध पाचवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में न हाने का कारण यह है कि 'कपाय का बन्ध का कारण कपाय का उदय है'। जिस प्रकार के कपाय का उदय हो उसी प्रकार कपाय का बंध हो सकता है। अप्रत्याख्यानारण-कपाय का उदय पहले चार ही गुणस्थानों में है, आगे नहीं, अतएव उनका बन्ध भी पहले चार ही गुणस्थानों में होता है ॥ ८ ॥





## मनुष्यगण का व्यवस्थामित्त ।

इय चद्रगुणेषु त्रि नरा, परमत्रया साजिण्य आहु देसाई ।  
जिण्य इकारस हीण्य, नवमउ अपजत्त निरियनरा ॥६॥

इति चतुर्गुणप्यपि नरा परमयता सजिनयोधो देशादिपु ।  
पिनैकादशहीन नवशतमपयात्तनिर्यञ्जरा ॥ ९ ॥

अर्थ—पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त मनुष्य, उन्हीं ४ गुणस्थानों में वर्तमान पर्याप्त तिर्यच क समान प्रकृतिया को बाधते हैं। भद केवल इतना ही है कि चौथे गुणस्थान वाले पर्याप्त तिर्यच, जिन नाम कर्म को नहीं बाधते पर मनुष्य उसे बाधते हैं। तथा पाचवें गुणस्थान से लेकर आगे के सत्र गुणस्थानों में, वर्तमान मनुष्य दूसरे कर्मग्रन्थ में बह हुए भ्रम के अनुसार प्रकृतियों को बाधते हैं। जो तिर्यच तथा मनुष्य अपयात्त हैं वे जिन नाम कर्म से लेकर नरकत्रिक-पर्यन्त ११ प्रकृतियों को छोड़ कर दन्धयान्य १२० प्रकृतियों में से शेष १०६ प्रकृतियों को बाधते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पर्याप्त तिर्यच पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों को बाधते हैं इसी प्रकार पर्याप्त मनुष्य भी उन ३ गुणस्थानों में चतनी चतनी ही प्रकृतियों को बाधते हैं। परन्तु

चौथे गुणस्थान में पर्याप्त तिर्यच ७० प्रकृतियों को बाधते हैं, पर पर्याप्त मनुष्य ७१ प्रकृतियों को, क्योंकि वे जिन नाम कर्म का बाधते हैं लेकिन तिर्यच उसे नहीं बाधते । पाचवें में तोकर तेरहवें गुणस्थान—पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान में जितनी ० बन्धयोग्य प्रकृतियां दूमरे कर्मग्रन्थ के बन्धाधिनार में कही हुई हैं, उतनी उतना ही प्रकृतियों को उम उस गुणस्थान के समय पर्याप्त मनुष्य बाधते हैं, जैसे —पाचवें गुणस्थान में ६७, छठे में ६३, सातवें में ५६ या ५८ इत्यादि ।

अपर्याप्त तिर्यच तथा अपर्याप्त मनुष्य को १०६ प्रकृतियों का जो बन्ध कहा है, यह मुख्यतः तथा विशेष देना प्रजार से समझना चाहिये, क्योंकि इस जगह 'अपर्याप्त' शब्द का मतलब लान्घि अपर्याप्त से है, करणअपर्याप्त से नहीं, और लान्घि अपर्याप्त जीव को पहला ही गुणस्थान होता है ।

'अपर्याप्त' शब्द का उक्त अर्थ करने का कारण यह है कि करण अपर्याप्त मनुष्य, तीरकर नाम कर्म का बाध भी सकता है, पर १०६ में उस प्रकृति की गणना नहीं है ॥ ६ ॥

पर्याप्त मनुष्य का वधस्थामित्य-यन्।

गुणस्थानों के नाम	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	व ध म नुष्य	
आद्य स	१२०	०	०	४	४	२	२६	४	१०	२	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८
मिच्छास्व में	११०	२	१४	४	४	२	२६	४	१०	२	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८
सारवाहन में	१०१	१६	१२	४	४	२	२५	४	१०	२	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८
मिथ में	९६	२१	०	४	४	२	२६	४	१०	२	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८
अपिरत में	०१	४६	४	४	४	२	२६	४	१०	२	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८
देशविरत में	९०	२३	४	४	४	२	२६	४	१०	२	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८
प्रमत्त में	९३	२०	४	४	४	२	२६	४	१०	२	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८	४	०८

क्रमसं म	६१	६२	६३	६४	६५	६६	६७	६८	६९	७०	७१	७२	७३	७४	७५
अथ करण में	५२	५३	५४	५५	५६	५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३	६४	६५	६६
अभितृप्ति में	६७	६८	६९	७०	७१	७२	७३	७४	७५	७६	७७	७८	७९	८०	८१
सूक्ष्मसम्पराय में	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
उपशान्तसौह में	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
शीघ्रमेह में	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
सयोगिनेवली में	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
दयोगिकवली में	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५

\* १५१५ प्रथम पदले भगमें, १५१६ का दूसरे सङ्कटक पाँच भागों में और १५१७ का प्रथम सातवें भाग में समकता-

लघ्वि अर्पर्याप्त तिर्यञ्च तथा मनुष्य का तथस्वामित्व पर ।

गुणस्थान	प्राघ से	मिथ्यारवस
१०६ मरुति	११	११
१०७ मरुति	०	०
१०८ मरुति	०	०
१०९ मरुति	२	२
११० मरुति	६	६
१११ मरुति	२	२
११२ मरुति	२६	२६
११३ मरुति	२	२
११४ मरुति	२६	२६
११५ मरुति	२	२
११६ मरुति	२	२
११७ मरुति	२	२
११८ मरुति	२	२
११९ मरुति	२	२
१२० मरुति	२	२
१२१ मरुति	२	२
१२२ मरुति	२	२
१२३ मरुति	२	२
१२४ मरुति	२	२
१२५ मरुति	२	२
१२६ मरुति	२	२
१२७ मरुति	२	२
१२८ मरुति	२	२
१२९ मरुति	२	२
१३० मरुति	२	२
१३१ मरुति	२	२
१३२ मरुति	२	२
१३३ मरुति	२	२
१३४ मरुति	२	२
१३५ मरुति	२	२
१३६ मरुति	२	२
१३७ मरुति	२	२
१३८ मरुति	२	२
१३९ मरुति	२	२
१४० मरुति	२	२
१४१ मरुति	२	२
१४२ मरुति	२	२
१४३ मरुति	२	२
१४४ मरुति	२	२
१४५ मरुति	२	२
१४६ मरुति	२	२
१४७ मरुति	२	२
१४८ मरुति	२	२
१४९ मरुति	२	२
१५० मरुति	२	२

‘ देवगति के बन्धस्वामित्व को दो गाथाओं से कहते हैं—’

निरय च सुरा नवर, थोहे पिन्धे उर्गिदितिग सहिया ।

कप्पदुगे विय एव, जिण्णीणो जोइभणखवणे ॥ १० ॥

निरया इव सुरा नवरमोघे मिथ्यात्व एकन्द्रियत्रिकसहिताः ।

कल्पादिकेऽपि चैव जिनहीनो ज्यातिप मवनवाने ॥ १० ॥

अर्थ—यद्यपि देवा का प्रकृति बन्ध नारकों के प्रकृति बन्ध के समान है, तथापि सामान्य-बन्ध-योग्य और पहले गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों में कुछ विशेष है, क्योंकि एकैन्द्रियता, स्थावर तथा आतपनामकर्म इन तीन प्रकृतियों को देव बाधते हैं, पर नारक उन्हें नहीं पाते। ‘सौधर्म’ नामक पहले और ‘इशान’ नामक दूसरे बन्ध ( देवलोक ) में जो देव रहते हैं, उनका सामान्य तथा विशेष प्रकृति बन्ध देवगति के उक्त प्रकृति-बन्ध के अनुसार ही है। इस प्रकार ज्योतिष, भवनपति और व्यन्तर निकाय के देव जिननामकर्म व सिवाय और मत्र प्रकृतियों को पहले दूसरे देव लोक के देवा के समान ही बाधते हैं।

भावार्थ—सामान्य देवगति में तथा पहले दूसरे देवलोक के देवों को सामान्यरूप से १०४, पहले गुणस्थान में १०३ दूसरे में ६६ तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

उपर्युक्त ज्योतिष आदि देवों को सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ६६, तीसरे में ७० और चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है ॥ १० ॥



सामाय्य देवगति का तथा पहले दूसरे देवलाक के देवों का नगरनामित्य यन्त्र ।

गुहस्थानों के नाम	१०४	१०५	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०
बाध से	१०४	१०५	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०
मिथ्यात्व में	१०२	१०३	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९
साख्यादम में	६६	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३	४४
मिश्र में	७०	५०	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९
अधिरत में	७२	७८	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९



रयस्यु व मणु कुमारा इ आण्पाई उज्जोयचउ रहिया ।  
अपञ्जतिरिय व नरसय, पिगिदिपुदविजलतरुविगले ॥११॥

रत्नवत्सनत्कुमारादय आनतादय उद्योतचतुर्विहिता ।  
अपयाप्ततियवन्नयज्ञत मेरेन्द्रियपृथ्वीजलतरुविले ॥ ११ ॥

अर्थ—तोमरे मनस्कुमार-देवलोक से लेकर आठवें सप्त  
सप्तक के दश, रत्नप्रमा नरक के नारकों के समान प्रकृति  
वन्ध के अधिकारी हैं, अर्थात् वे सामान्यरूप से १०१,  
सिंघात्य-गुणस्थान में १००, वूमरे गुणस्थान में ६६, तीसरे  
में ७० और चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों को बाधते हैं।  
आनत से अन्युत पयन्त ४ देवलोक और ६ मैथेयन के दश  
उग्रत चतुष्क व सिवाय और मय प्रकृतियों को मनस्कुमार के  
दशों के समान बाधते हैं, अर्थात् वे सामान्यरूप से ६७,  
पहले गुणस्थान में ६६, दूसरे में ६०, तीसरे में ७० और  
चौथे गुणस्थानमें ७२ प्रकृतिया का बाधते हैं। ( इन्द्रिय और  
कायमागणा का वधस्वामित्त )— धनेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय,  
पृथ्वीमायिक, जलकायिक तथा वनस्पतिकायिक जीव, अपर्याप्त  
नियन्त्र के समान जिननामकर्म से लेकर नरकत्रिक पयन्त १  
प्रकृतिया को धाड़कर वन्ध-योग्य १२० में से शाय १०८  
प्रकृतियों को सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में बाध  
हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—उद्योत चतुष्क मे उद्योतनामकर्म, तिर्यश्वगति, तिर्यश्वआयुपूर्वी और तिर्यचआयु का महण होता है ।

यद्यपि अनुत्तरविमान के विषय मे गाथा मे कुछ नहीं कहा है, परन्तु समझलेना चाहिये कि उसके देव सामान्यरूप से तथा चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों के बन्ध के अधिकारी हैं । उन्हें चौथे के सिवाय दूसरा गुणस्थान नहीं होता ।

अपर्याप्त तिर्यच की तरह उपर्युक्त एकेन्द्रिय आदि ७ मार्गण,ओं के जीवों के परिणाम नतो सम्यक्त्व तथा चारिण के योग्य शुद्ध ही होते हैं, और न नरक योग्य अतिअशुद्ध ही, अतएव वे नितनामकर्म आदि ११ प्रकृतियों को बाध नहीं सकते ॥ ११ ॥





अनुचर विमानवासी देवों का बन्धसामित्व यन्त्र ।

पुण्यस्थान	अधिरत में	
	घोष से	ध्वनि से
सुवर्णमण्डप	७०	७२
सुवर्णमण्डप	४८	४८
सुवर्णमण्डप	०	०
सुवर्णमण्डप	२	२
सुवर्णमण्डप	१६	१६
सुवर्णमण्डप	१	१
सुवर्णमण्डप	३३	३३
सुवर्णमण्डप	१	१
सुवर्णमण्डप	२	२
सुवर्णमण्डप	५	५
सुवर्णमण्डप	२	२
सुवर्णमण्डप	०	०
सुवर्णमण्डप	५८	५८
सुवर्णमण्डप	५८	५८

छनेरड सासणि विष्णु सुहृ-भतेर केइ पुराविनि चउनवइ ।  
तिरियनराऊहि विष्णा, तएणपञ्जचिं न ते जति ॥ १० ॥

पण्णरति, सासादने विगा सुव्यत्योदत्त वचित्पुनमुंयति ।

तिरियेग्नरायुभ्यां विना तनुपयाति न ते याति ॥ १२ ॥

अथ-पुर्वोक्त एकेन्द्रिय आदि जौब दूसरे गुणस्थान में  
६६ प्रकृतियों को बाँधत हैं, क्योंकि पहले गुणस्थान की वध  
योग्य १०६ में स सूक्ष्मांत्रिक न लेकर सेवार्त पयन्त १३  
प्रकृतियों का उ नहीं बाँधते । पाइ आचार्य कहत हैं कि-“य  
एकेन्द्रिय आदि, दूसरे गुणस्थान के समय तियन्व आयु तथा  
मनुष्यआयु को नहीं बाँधते, इससे वे उस गुणस्थान में ६४  
प्रकृतियों को हा बाँधत हैं । दूसरे गुणस्थान में तिरियन्व  
आयु तथा मनुष्य आयु बाँध न सकने का कारण यह है कि वे  
एकेन्द्रिय आदि, उस गुणस्थान में रह कर शरीरपर्याप्ति पूरी  
करने नहीं पात ।” ॥ १२ ॥

‘न जति उभो’ इत्यपि पाठ ।

+ इम भाषा में यखन क्रिया हुआ २६ और २४ प्रकृतियों के  
वध का मत भइ प्राधान्य वधस्वामिच में है यथा —

साया वधाहि साक्षस निरतिग हीया य मोषु वपउइ ।

भोधथ वीसुधर—सय च पचिदिषा वधे ॥ २३ ॥

इग विग जिदी साया, तएण पञ्जचिं न जति उ तेण ।

नर तिरियाउ अयथा, मय तरेण सु चउव्यवइ ॥ २४ ॥

भावार्थ—एकेन्द्रिय आदि को अपर्याप्त अवस्था ही में दूमेरे गुणस्थान का सम्भव है, क्यों कि जो भवनपति व्यन्तर आदि, मिथ्यात्व में एकेन्द्रिय आदि की आयु बाँध कर पीछे स सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं वे मरण के समय सम्यक्त्व को वमते हुए एकेन्द्रिय आदि-रूप में पैदा होते हैं, उसी समय उनमें सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है।

दूमेरे गुणस्थान में वर्तमान एकेन्द्रिय आदि जीवों के बाधस्यामित्य के विषय में जो मत भेद ऊपर कहा गया है, उसे समझने के लिये इस सिद्धान्त को ध्यान में रखना आवश्यक है कि “कोई भी जीव इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी किये बिना आयु को बाँध नहीं सकता।”

६६ प्रकृतियों का बाध माननेवाले आचार्य का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि इन्द्रियपर्याप्ति के पूर्ण बन चुकने के बाद जब कि आयु बाध का काल आता है तब तब मासादन भाव घटा रहता है। इसलिये सामादन गुणस्थान में एकेन्द्रिय आदि जीव तिर्यच आयु तथा मनुष्य आयु का बाध पर सन्त हैं। परंतु ६४ प्रकृतियों का बाध माननेवाले \*अ १-

\* ६४ प्रकृतियों का बाध माननेवाले आचार्य के विषय में श्री नपसोमसुरि ने अपना गुजराती टिप्पण में लिखा है कि “वे आचार्य श्री चन्द्रसुरि प्रमुग हैं।” उनके पक्षकी पुष्टि के विषय में श्री जीवविज्ञ पदो अपने टिप्पण में कहते हैं कि “यह पक्ष युक्त जान पड़ता है। क्योंकि पक्षिन्द्रिय आदि की जन्म आयु भी २५६ आवलिका प्रमाण है, उसके



चार्य कहते हैं कि सासादनभाव में रहकर इन्द्रिय पर्याप्ति को पूर्ण करने की तो बात ही क्या शरीर पर्याप्ति को भा पूर्ण नहीं कर सकते अर्थात् शरीर पर्याप्ति पूर्ण करने के पहले हा प्रकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त जात सासादन भावसे च्युत हो जाते हैं। इसलिये वे दूसरे गुणस्थान में रहकर आयु को बाध नहीं मरत ॥ १० ॥

दो भाग—अथात् १०१ आचलिकायें तीन चुकने पर आयु-बन्ध का सम्भव है। पर उनके पहले ही सासादनसम्पन्नत्व चला जाता है, क्योंकि वह उत्कृष्ट ६ आचलिकायें तक ही रह सकता है। इसविध सासादन अवस्था में ही शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति का पूरा बन जाना मान लिया गया तथापि उस अवस्थामें आयु बन्ध का निर्मासक सम्भव ही नहीं।” इती की पुष्टि में उन्होंने औदारिक मिथ मार्ग्या का सासादन गुणस्थान-सम्बन्धी ६४ प्रकृतियों के बन्ध का भा उपपाद किया है। ६१ का व२ माननवाक आचार्य का क्या अभिप्राय है, हम कोह नहीं जानते। यही बात धी धीबधिजयनी और भी जयमा मन्त्रि न अपने इय न कही है। ६४ के बन्ध का पच त्रिशप सम्मत जान पड़ता है क्योंकि उस एकही पच का उपलक्षण गाम्मटमार (कर्मकाण्ड) में भी है—

पुरिण्दर विमि रिगले तस्थुप्पणो द्व सासथो दह ।

पञ्चति य वि पावदि इदि नरतिरियाडग यत्थि ॥ ११३ ॥

अथात् एकन्द्रिय और विकलन्द्रिय में पूर्वोक्त—अधि अप-पात—के समान बन्ध होता है। उस एकन्द्रिय तथा विकलन्द्रिय में पैदा हुआ सासादन सम्पन्नी जीव शरीर पर्याप्ति को पूरा कर नहीं सकता, इसलिये उसको उस अवस्था में मनुष्य आयु या त्रिवेच आयु का बन्ध नहीं होता।



“इम गाथा मे पञ्चेन्द्रिय जाति, नसकाय, और गतिप्रस मे  
 बन्धस्वामित्व कहकर १६वीं गाथा तक योग मार्गशा  
 के बन्ध स्वामित्व का विचार करते हैं।

श्रोतु पाणिदितसे गद्-तमे जिशिवका नरतिगुचर विरा।  
 मणायजोगे श्रोहो, उरले नरभगु तम्मिस्मे ॥ १३ ॥

आप पञ्चेन्द्रियप्रसे गतिप्रसे त्रिनेरादश तरत्रिकोष्प विरा।  
 मनायचायोग आय औदारिके नरभगस्तान्मिथ ॥ १३ ॥

अर्थ—पञ्चन्द्रिय जाति और प्रसरार में प्राय-प्राय  
 धिकार के समान-प्रवृत्ति-ध जानना । गतिप्रस ( तैप काय  
 और वायुकाय ) में जिनकादश-जिनतामकर्म से लेकर नरक  
 त्रिक पयस ११-मनुचत्रिप और उचरगोत्र इन १५  
 की छोड़, १२० में से शेष १०५ प्रवृत्तियों का धध होता है ।  
 ( योगमार्गशा का बन्धस्वामित्व ) मनोयोग तथा बचनयोग में  
 प्रथात् मनोयोग धाल तथा मनोयोगसहितबचनयोग धाले  
 जीवा मे बन्धाधिकार के समान प्रवृत्ति-बन्ध समरुता । औ  
 रिक काययोग में प्रथात् मनोयोगबचनयोगसहित औदारिक  
 काययोग धालों में नरभग-पयात्त मनुच्य के समान धध  
 स्वामित्व-समरुता ॥ १३ ॥

भावार्थ—पञ्चेन्द्रियजाति और प्रसरार का बन्धस्वामित्व  
 बन्धाधिकार के समान कहा हुआ है, इसका मतलब यह है  
 कि जैसे हमारे कमबन्ध में बंधाधिकार में सामान्यरूप से

१२० और विशेषरूप में—तेरह गुणस्थानों में—क्रमसे ११७, १०१, ७८, ७७ इत्यादि प्रकृतियों का बन्ध कहा है, वैसे ही चन्द्रोन्द्रियजाति और जन्मकाय में भी सामान्यरूप से, १२० तथा तेरह गुणस्थानों में क्रमसे ११७, १०१ आदि प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिये ।'

इसी तरह आगे भी जिस मार्गणा में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व कहा जाय वही उस मार्गणा में जितने गुणस्थानों का सम्भव है, उतने गुणस्थानों में बन्धाधिकार के अनुसार बन्धस्वामित्व समझ लेना चाहिये ।

गतित्रस । † शास्त्र में त्रस जीव दो प्रकार के माने जाते हैं—एक तो वे, जिन्हें त्रसनामकर्म का उदय भी रहता है और जो चलते फिरते भा हैं । दूसरे वे, जिनको उदय तो स्थावर नाम कर्म का होता है, पर जिनमें गति क्रिया पायी जाती है । ये दूसरे प्रकार के जीव 'गतित्रस', या 'सूक्ष्मत्रस' कहलाते हैं ।

इन गतित्रसों में १०५ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व कहा हुआ है, मा सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार से, क्योंकि इनमें पहला गुणस्थान ही होता है । उनके बन्धस्वामित्व में जिन ७ सप्तदश आदि उपर्युक्त १५ प्रकृतियों के न गिनने का कारण यह है कि वे गतित्रस मर कर केवल तिर्यञ्चगति में

† उत्तराख्ययन अ० ३६, गा० १०७

२ \* यथा—“सुद्धमतसा शोध वृत्त तसा” (प्राचात बन्धस्वामित्वे गा २५)

जाते हैं, अन्य गतियों में नहीं। परन्तु उक्त १५ प्रकृतियों को मनुष्य, दैव या नरक गति ही में उदय पाने योग्य हैं।

यद्यपि गाथा में 'मणव्यजोगे' तथा 'उरले' ये दोनों पद सामान्य हैं, तथापि 'ओहो' और 'नरभगु' शब्द क सन्निधान में टीका में 'व्यजोग का' मतलब मनोयोग-सहित-वचनयोग और 'उरल' का मतलब मनोयोगवचन-योगसहित औदारिक काययोग—इतना रक्खा गया है, इस लिये अर्थ भी टीका के अनुसार ही कर दिया गया है। परन्तु 'व्यजोग' का मतलब केवल वचनयोग और 'उरल' का मतलब केवल औदारिक काययोग रख कर भी उसमें बन्धस्वामित्व का विचार किआ हुआ है, जो इस प्रकार है कि केवल वचनयोग में तथा केवल औदारिक काययोग में विकलेन्द्रिय या एकैन्द्रिय के समान बन्धस्वामित्व है अर्थात् सामान्यरूप से तथा पहले गुण स्थान में १०६ और दूसरे गुणस्थान में ६६ या ६४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है।

योग का, तथा उसके मनोयोग आदि तीन मूल भेदों का और सत्य मनायोग आदि १५ उत्तर भेदों का स्वरूप चौथे कर्मप्रथ की गाथा ६, १०, और २४ की में जान लेना ॥१३

आहारद्वय विणोहे, चउदसमउ मिच्छि जिणपणमहीयं ।  
सासणि चउनवइ विणा, नरतिरिआऊ\* सुहुमतेर ॥१४॥

आहारपट्क विनोघे चतुर्दशसत मिथ्यात्वे जिनपञ्चक हीनम् ।  
सासादने चतुर्नरतिविना नरतिर्यंगायु सूक्ष्मत्रयोदश ॥ १४ ॥

अर्थ—(पिछली गायसे ' तन्मिसे ' पद लिया जाता है)  
भौदारिक मिश्रकाययोग में सामान्यरूप से ११४ प्रकृतियों का  
बन्ध होता है, क्योंकि आहारक-द्विक, देवध्यायु और नरकत्रिक  
इन द्वादश प्रकृतियों का बन्ध उममें नहीं होता। उस योग में पहले  
गुणस्थान के समय जिननामकर्म, देव-द्विक तथा वैक्रिय-द्विक इन  
पाचके सिवाय उक्त ११४ में से शेष १०६ प्रकृतियों का बन्ध

ॐ " तिरिअनराऊ इत्यपि पाठ "

‡ मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन १०६ प्रकृतियों का बन्धस्त्रामित्व  
भौदारिकमिश्रकाययोग में माना जाता है, उनमें तिर्यञ्जत्रायु और  
मनुष्यध्यायु भी परिगणित हैं। इसपर श्रीजीवविजयजी ने अपने टिप्पण में  
संदेह किया है कि " भौदारिकमिश्रकाययोग शरीर पर्याप्ति के पूरे होने  
पर्यन्त ही रहता है, आगे नहीं, और आयुबन्ध शरीरपर्याप्ति और इन्द्रिय  
पर्याप्ति पूरी हो जाने के बाद होता है, पहले नहीं। अतएव भौदारिक  
मिश्रकाययोग के समय अर्थात् शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व में, आयु-  
बन्ध का किसी तरह सम्भव नहीं। इसलिये उक्त दो आयुधों का १०६  
प्रकृतियों में परिगणन विश्वारणीय है। " यह संदेह शिलाकग्राचार्य के  
मत को लेकर ही किया है, क्योंकि वे भौदारिकमिश्रकाययोग को शरीर  
पर्याप्तिपूर्ण बनने तक ही मानते हैं। परन्तु उक्त संदेह का निरसन इस  
प्रकार किया जा सकता है —



सेवात-पर्यन्त १३-कुल १५ प्रकृतियों का बन्ध उसमें नहीं होता ॥ १४ ॥

इसलिये औदारिक-मिश्रकाययोग में मिथ्यात्व गुणस्थान के समय उग्र वा आयुधों का बन्धस्वामित्व माना जाता है सो उक्त पक्षकी अपेक्षा स दुबल ही है। मिथ्यात्व के समय उक्त दो आयुधों का बन्धस्वामित्व औदारिक-मिश्रकाययोग में, जैसा कर्मग्रन्थ में निर्दिष्ट है वैसे ही योग्यतया में भी। यथा —

“ औराले वा मिस्मे ऋहि सुराशिरयाउहाराशिरयदुग ।

मिच्छतुगे देवघभो तिरथ ऋहि अशिरदे आधि ॥ ”

[ कर्म काण्ड वाचा ११६ ]

अर्थात् “ औदारिक-मिश्रकाययोग का बन्धस्वामित्व औदारिक काय योग के समान ही है। विशेष इतना ही है कि देव आयु नरक आयु, आदारक-द्विक और तरकद्विज-इत छह प्रकृतियों का बन्ध औदारिक मिश्र काययोग में नहीं होता तथा उसमें मिथ्यात्व के और सास्वाद का समय देवघतुप्प व जिताम कर्म इन २ का बन्ध नहीं होता, पर अद्वितमभ्यगृष्टि के समय उनका बन्ध होता है। ”

उपर्युक्त समाधान की पुष्टि श्री जयसोमसुरि के कथन से भी होती है। उन्होंने अपने टिप्पण में लिखा है कि “ यदि यह पक्ष माना जाय कि शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक ही औदारिक-मिश्रकाययोग रहता है तो मिथ्यात्वमें तिर्यक आयु तथा मनुष्य आयुका बन्ध उद्यमपि नहीं होसकता, इसलिये हम पक्ष की अपेक्षा में उस योग में सामा यरूप में ११२ और मिथ्यात्व में १०७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए । ” इस कथनसे, स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण उन जाने पर्यन्त औदारिक-मिश्रकाययोग रहता है हम दूसरे पक्ष की सूचना स्पष्ट होती है।



अथ चउवीसाइ विद्या, जिनपञ्चजुय समि जागण्या साय  
विष्णु तिरिनराउ कम्मि, वि एवमाहारदुगि ओहो ॥ १५ ॥

अनचतुनशाति विना जिनपञ्चकयुता सम्यकत्वे योगिन सातम्  
विना तियङ्गरायु कामणेष्येणमाहारकद्विक आध ॥ १५ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ६४ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धि-  
चतुष्क से लेकर तिर्यच द्विक पर्यन्त २४ प्रकृतियों का  
घटा कर शेष ७० में जिननामकम, देव द्विक तथा वैश्विच  
द्विक इन ५ प्रकृतियों के मिलाने से ७५ प्रकृतियों होती हैं,  
\* इनका धन्ध औदारिकमिश्रकाययोग में चौथे गुणस्थान के

\* चौथे गुणस्थान के समय औदारिकमिश्रकाययोग के जिन ७६  
प्रकृतियों का बधनामित्त्व कहा है, उनमें मनुष्यार्द्धिक, औदारिक-द्विक  
और प्रथम सहजान-इन २ प्रकृतियों का समावेश है। इस पर श्री  
जीवजिजय जी महाराज न भयन टप में सहज उदाया है कि "चौथे  
गुणस्थान में औदारिक मिश्रकाययोगी उक्त २ प्रकृतियों को बंध  
नहा सकता। क्योंकि तिर्यच तथा मनुष्य के सिवाय दूसरों में इस योग  
का सम्भव नहीं है और तिर्यच मनुष्य उस गुणस्थान में उक्त २  
प्रकृतियों का बंध हा नहीं सकते। अतएव तिर्यच गनि तथा मनुष्य गति  
में चौथे गुणस्थान के समय जा क्रम से ७० तथा ७१ प्रकृतियों का धन्ध  
नामित्त्व कहा गया है उसमें उक्त २ प्रकृतियों नहीं आती।" हम सद्बुद्ध  
का निवारण भी अपसोमसूत्रि न किया है —

वे भयन टप में लिखते हैं कि 'सायागत 'असुचउवीसाइ इस  
शब्द का अर्थ अनन्तानुबन्धिआदि २४ प्रकृतियों—यह नहीं करना,  
अनु आइ शब्द से और भी २ प्रकृतियों छकर अनन्तानुबन्धि  
दि २४ तथा मनुष्यद्विक आदि २ कुल २६ प्रकृतियों—यह अर्थ

समय होता है। तेरहवें गुणस्थान के समय उस योग में केवल सातवेदनीय का बन्ध होता है। कार्मेण्काययोग के तिर्यश्चायु और नरञ्चायु के सिवाय और सत्र प्रकृतियों का बंध औदारिकमिश्रकाययोग के समान ही है। आहारक द्विक में—आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग में सामान्य तथा विशेषरूप से ६३ प्रकृतियों के ही बन्ध की योग्यता है ॥१५॥

प्रना। ऐसा अर्थ करने से उक्त सदेह महा रहता। क्योंकि १४मेंसे २६ पढ़ाकर शेष १२में त्रिनपचक मिलाने से ७० प्रकृतियाँ होती हैं जिनका कि पचस्वामित्व उस योग में उक्त गुणस्थान के समय किसी तरह घिरद्ध नहीं है।” यह समाधान प्रायः प्रायः प्रायः जान पड़ता है। इसकी पुष्टि के लिये पहले तो यह कहा जा सकता है कि मूल गायत्री में ‘पचहस्तर’ शब्द का बोधक कोई पद ही नहीं है। दूसरे श्री दिगम्बराचार्य नेमिन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी द्वितीय गुणस्थान में २६ प्रकृतियों का उक्त मानत है —

“पयस्वारसमुनतील मिच्छदुगे अविरेदे क्षिदी चंडिरो।”

[ गोम्भटसार, वमकाण्ड गा० ११७ ]

पद्यपि टीका में ७२ प्रकृतियों के बंध का उक्त स्पष्ट किया है —

प्रागुक्ता चतुर्नवतिरनन्तानुबन्ध्यादि चतुर्विंशतिप्रकृतीर्धिना जिननामादि कृतिपंचकयुता च पंचमसतिस्तामौदारिकमिश्रकाययोगी सम्यक्त्वे यन्नाति। पचस्वामिरत्र नामक प्राचीन सास्त्रे कर्मग्रन्थ में भी गायत्री ( २८ १६ ) में ७२ प्रकृतियों के ही बन्ध का विचार किया है, तथापि जानना चाहिये कि उक्त टीका, मूल कर्ता श्री देवेन्द्रमूरि की महा है और टीका

भावार्थ—पूव गाथा तथा इस गाथा में मिला कर पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें इन ४ गुणस्थानों में औदारिकमिथ का उपयोग के उच्यवामित्व का विचार किया गया है, सो कर्म अधिक मत के अनुसार, क्योंकि सिद्धांत के मतानुसार तो इस योग में और भी दो (पाँचवा, छठा) गुणस्थान माने जाते हैं। वैत्रिलब्धि से वैत्रिय शरीर का आरम्भ करने के समय अथवा पाँचवें-छठे गुणस्थान में और आहारकलादि

कार ने इन विषय में कुछ शका-समाधान नहीं किया है इस प्रकार प्राचीन व्यवस्थामित्व की गणना में भा औ औ गतिम्वाद्याय न मता इम विषय में कुछ शका उदाह है और न समाधान ही किया है। हमने जन पक्ता है कि वह विषय बाह्य विना निरुप विन्द किये परम्परा से सूत्र तथा टीका में चला आया है। हम पर धार कामप्रचिनों का विचार करना चाहिये। तत्र नरुधा उपमानसुति क समागत की महत्व देन में कोई धारति नहीं।

विषय तथा अनुभवही औदारिकमिथकापयोगी है और वे चतुष गुण स्थान में क्रम से १० तथा ११ प्रकृतियों का बाध वि बाधन है तथापि औदारिक मिथकापयोग में गुण गुणस्थान के समय १२ प्रकृतियों का बाध न मान कर १० प्रकृतियों के बाध का समर्थन इसलिये किया जाता कि उक्त योग अपवाप्त अवस्था ही में पाया जाता है। अपवाप्ता अवस्था में तिसर या अनुभव कोई भी दवायु नहीं बाध सकते। इससे वि तथा अनुभव ही बाध्य प्रकृतियों में दवायु परिगणित है पर मिथकापयोग की बाध्य प्रकृतियों में से उसका निकाल

र आहारक शरीर को रचने के समय अर्थात् छद्मे गुणस्थान  
 में औदारिकमिश्रकाययोग सिद्धान्त म+ माना है ।

औदारिकमिश्रकाययोग में ४ गुणस्थान मानने वाले  
 धर्मप्रधिक विद्वानों का तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि  
 नार्मण शरीर और औदारिकशरीर दोनों को मट्ट से होने  
 वाले योग को 'औदारिकमिश्रकाययोग' कहना चाहिये जो

+ इस मत की सूचना चौरे कमप्रथम "मामए भावे नाए,  
 उएव गाह'रगे उरलमिस्म ।' गाथा ४६ श्री में है, जिस का गुलामा  
 म प्रकार है -

"यदा पुरा औदारिकशरीर वैक्रियलं र मम्प'। मनुएः पचन्दिप  
 र्गयोतिरा वा पयाप्तबाहुरवायुनाभिरः वा वक्रिय करोति तदा औदारिक  
 शरीर योग एव यतमान प्रदे'जान् विक्षिप्य घन्दिशरीरयोग्यात् पुत्रलाना  
 ए यात्रद्विपयशरीरपर्याप्त पयाप्तं त गवदनि तात्रद्विपयेण मिश्रता',  
 एपदेश औदारिकस्य, प्रधानत्वात् । एवनाहाररेणोपि सह मिश्रा  
 एष्या, आहारयनि चेतनेवेति तस्यैव व्यपदेश इति ।"

अर्थात् औदारिकशरीर प्राणा-वैक्रियल-धधारक मनुए,  
 चन्द्रिय तिस्र या यादरपर्याप्त वायुनाभिक तिन समय वैक्रिय  
 शरीर रचना है उस समय यह, औदारिक शरीर म रहता हुआ  
 अपने प्रदशों को फैला कर, आर वैक्रिय शरीर यात्र पुदला को  
 कर जब तक वैक्रिय शरीर पर्याप्त को पूरा नहा करता है, तब  
 तक एवक औदारिक काययोग को वैक्रियशरीर र मथ मिश्रता है,  
 तबु एवहार औदारिक को लेकर औदारिक मिश्रता का बनना  
 चाहिये, क्योंकि उसी की प्रधानता है। इसी प्रकार आहारक शरीर करने के  
 समय भी उसके साथ औदारिक काययोग की मिश्रता का जानलेना चाहिये।

पहले, दूसरे, चौथे और तरहवें इन ४ गुणस्थानों ही में पाया जा सकता है। पर सैद्धान्तिकों का आशय यह है कि निम्न प्रकार कामण शरीर को लेकर औदारिक मिश्रता मानी जाती है, इस प्रकार लघिजन्य वैत्रियशरीर या आहारक शरीर के साथ भी औदारिक शरीर की मिश्रता मान कर औदारिकमिश्र काययोग मानन में कुछ बाधा नहीं है।

कामणकाययोग वाले जावा में पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवा ये ४ गुणस्थान पाये जाते हैं। इनमें से तेरहवा गुणस्थान केवलसमुद्घात के तनिके, चौथे और पांचवें समय में केषाली भगवान् को होता है। शेष तीन गुणस्थान अन्य जावों को अन्तराल गति के समय तथा जन्म के प्रथम समय में हाते हैं।

कामण काययोग का बन्धस्वामित्व, औदारिकमिश्रकाययोग के समान है, पर इसमें तिर्यञ्चआयु और मनुचआयु का बन्ध नहीं हो सकता। अतएव इसमें सामान्यरूप से ११०, पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ६४, चौथे में \* ७५ और तेरहव गुणस्थान में १ प्रकृति का बन्ध हाता है।

\* यद्यपि कामणकाययोग का बन्धस्वामित्व औदारिकमिश्रकाययोग के समान कहा गया है, चार चतुर्थ गुणस्थानमें औदारिकमिश्रकाययोग में ७२ प्रकृतियों के बन्ध पर शका उठा कर ७० प्रकृतियों के बन्ध का समर्थन किया गया है तथापि कामणकाययोग में चतुर्थ पुत्र

आहारक काययोग और आहारकमिश्रकाययोग दोनों  
 छे ही गुणस्थान में पाये जा सकते हैं, इसलिये उनमें उस  
 गुणस्थान की बन्ध-योग्य ६३ प्रकृतियों ही का बन्धस्वामित्व  
 सीया गया है ॥ १५ ॥



पान के समय पूर्वोक्त शका समाधान की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि  
 आहारकमिश्रकाययोग के अधिकारी तिर्यच तथा मनुष्य ही हैं  
 कि मनुष्य द्विक आदि २ प्रकृतियों को नहीं चाँघते, परन्तु कर्मण्यकाय  
 योग के अधिकारी मनुष्य तथा तिर्यञ्च के अतिरिक्त देव तथा नारक भी  
 हैं जोकि मनुष्य द्विक से लेकर यज्ञऋषभनाराचसहनन तक २ प्रकृतियों  
 को चाँघते हैं। इसीसे कर्मण्य काययोग की चतुष्टय गुणस्था संवाधिनी  
 ६२ प्रकृतियाँ अतः पाँच प्रकृतियों की गणना है।

यथा — “ त्वेदं आहारं गे जहा पमत्तस्स ” इत्यादि ।

[ प्राचीन बन्धस्वामित्व गा० ३२ ]

किन्तु आहारकमिश्रकाययोग में देवआयु का बन्ध रोम्भटमार  
 नहीं मानता, इससे उसके मतानुसार उस योग में ६२ प्रकृतियों ही का  
 बन्ध होता है। यथा —

“ छट्ठगुण वाहारे, तम्मिस्से यत्थि देवाक । ”

[ कर्मकाण्ड गा० ११८ ]

अर्थात् आहारक काययोग में छठे गुणस्थान की तरह बन्धस्वामित्व  
 है, परन्तु आहारकमिश्रकाययोग में देवायु का बन्ध नहीं होता ।

सुरशोहो, वेड्ये, तिरियनराउ रहिमो य तन्मिस्ते ।  
 वेयनिगाडम त्रियणिय-रुमाय नयदुनउपरमुखे ॥ १६ ॥  
 सुराधो वैक्रिय त्रियन्नायूरहिनस्व तन्मिथ ।  
 वेद त्रिकादिनाद्वितीयतृतीयरूपाया त्वद्विचतुःशतगुण ॥ १६ ॥

अर्थ—वैक्रिय काययोग में देवगति के समान धन्यता  
 है । वैक्रियमिथकाययोग में त्रियंथ्रमायु और अनुभव  
 क सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध वैक्रिय काययोग  
 समान है । ( वेद और कथाय मार्गणा का बन्धस्वामिन्व  
 तीन वेद में ६ गुणस्थान हैं । आदिम—पहले ४ अन्तानुप  
 कथायां में पदला दूमरा ६ गुणस्थान हैं । दूसरे—अप्रत्या  
 नावरण—रूपायों में पहिले ४ गुणस्थान हैं । तीसरे—प्रत्या  
 नावरण—कथाया म पहिले ५ गुणस्थान हैं ॥ १६ ॥

भारार्थ—वैक्रिय काययोग । इसके अधिकारी देव  
 नारक ही हैं । इससे इसम गुणस्थान देवगति क समान ४  
 माने हुए है और इसका धन्यस्वामिन्व भी देवगति क समान  
 ही अर्थात् सामान्यरूप से १०४, पहले गुणस्थान में १०  
 दूसरे में ६६, तीसरे में ७० और चौथे में ७० प्रकृतियों का है

वैक्रियमिथकाययोग । इस के स्वामी भी देव तथा नारक  
 ही हैं, पर इसमें आयु का बन्ध असम्भव है, क्योंकि  
 योग अपर्याप्त अवस्था ही में देवों तथा नारकों को होना  
 लेकिन देव तथा नारक पर्याप्त

प्रमाण आयु नाकी रहने पर ही, आयु-बन्ध करते हैं। हमीसे इस याग में तिर्यञ्च-आयु और मनु-यञ्चायु के सिवाय अन्य त्रय प्रकृतियाः का बन्धस्वामित्व वैक्रिय काययोग के समान रहा गया है।

वैक्रियमिश्रकाययोग में वैक्रिय काययोग स एक भिन्नता और भी है। वह यह है कि उसमें चार गुणस्थान हैं पर इसमें तीन ही, क्योंकि कि यह योग अपर्याप्त अवस्था ही में होता है इससे इनमें अधिक गुणस्थान अमम्भर हैं। अतएव इनमें सामान्यरूप से १०२, पहले गुणस्थान में १०१, दूसरे में ६६ और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

पाँचवे गुणस्थान में वर्तमान + अमृत परित्राजक आदि तथा छठे गुणस्थान में वर्तमान विष्णुकुमार आदि मुनि वैक्रिय लन्धि के बल से वैक्रिय शरीर किया वा-यह बात आज में प्रसिद्ध है। इससे यद्यपि वैक्रिय काययोग तथा क्रियमिश्रकाययोग का पाँचवे और छठे गुणस्थान में होना नभव है, तथापि वैक्रियकाययोग वाले जीवों को पहले

\* [ प्राचान बन्धस्वामित्व-टीका पृ० १०१ ]—

'मिच्छे सासाथे वा अविरयसम्माम्भि अहव गहियम्भि

जाति जिषा परलोए, सेमरकारसगुणे मोलु ॥ १ ॥

अर्थात् जीव मरकर परलोक में जाते हैं, तब वे पहले, वृमेरे या ये गुणस्था हो ग्रहण किये हुये होते हैं, परन्तु इन तीर के सिवाय र ग्यारह गुणस्थाओं को ग्रहण कर परलोक के लिये कोई जीव समन [ करता ] श्रीपपातिक सत्र ७. ३. ३



चार ही और वैक्रियमिश्रकाययोग वाले जधियों को पहला, दूसरा और चौथा ये तीन ही गुणस्थान घतलाये गये हैं, इसका कारण यह जान पड़ता है कि 'लघ्वि अन्य वैक्रियशरीर की अल्पता (कमी) के कारण उनसे होने वाले वैक्रिय काययोग तथा वैक्रियमिश्रकाययोग की विवक्षा आचार्यों ने नहीं की है। किन्तु उन्होंने ने केवल भव प्रत्यय वैक्रियशरीर को लेकर ही वैक्रियकाययोग तथा वैक्रियमिश्रकाययोग में क्रम के वक्त चार और तीन गुणस्थान घतलाये हैं।'

\* वेद । इन में ६ गुणस्थान माने जाते हैं, सो इस अपेक्षा से कि तीनों प्रकार के वेद का उदय नववें गुणस्थान तक ही होता है, आगे नहीं। इसलिये नवा गुणस्थानों में वेद का बन्धनमित्य वधाधिकार की तरह—अर्थात् सामान्य रूप से १२०, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०९, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३, सातवें में ५८, आठवें में ५८, ५६ तथा ०६ और नववें गुणस्थान में ०० प्रकृतियों का है।

\* वेद भागशा ॥ लेकर आहारक भागशा, या १९ वीं गाथा में निदिष्ट है वही तक सब भागशाओं में बधाम्बध गुणस्थान ही का कथन किया गया है—बधस्वामिरेव का जुदा जुदा कथन नहीं किया है। परन्तु १९ वीं गाथा के अन्त में "नियमित्य गुणोहो" यह पद है, उसकी अनुवृत्ति करके उक्त सब पद आदि भागशाओं में बधस्वामिरेव का कथन भाषार्थ में कर दिया है। 'नियमित्य गुणोहो' इस पद का मतलब यह है कि वेद आदि भागशाओं का अपने अपने गुणस्थानों में बधस्वामिरेव के समान समझना।

अनन्तानुबन्धी कपाय । इनका उदय पहले, दूसरे दो गुणस्थानों ही में होता है, इसी से इनमें उक्त दो ही गुणस्थान माने जाते हैं । उक्त दो गुणस्थान के समय न तो सम्यक्त्व होता है और न चारित्र । इसीसे तीर्थंकर नामकर्म ( जिस का बन्ध सम्यक्त्व से ही हो सकता है ) और आहारक-द्विक ( जिसका बन्ध चारित्र से ही होता है )—ये तीन प्रकृतियाँ अनन्तानुबन्धि-कपाय वालों के सामान्य बन्ध में से वर्जित हैं । अतएव वे सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७ और दूसरे में १०१ प्रकृतियों को बाँधते हैं ।

अप्रत्याख्यानावरण कपाय । इन का उदय ४ गुणस्थान पर्यन्त ही होने के कारण इनमें ४ ही गुणस्थान माने जाते हैं । इन कपायों के समय सम्यक्त्व का सम्भव होने के कारण तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो सकता है, पर चारित्र का अभाव होने से आहारक-द्विक का बन्ध नहीं हो सकता । अतएव इन कपायों में सामान्यरूप से ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये ।

प्रत्याख्यानावरण कपाय । ये ५ गुणस्थान-पर्यन्त उदयमान रहते हैं, इससे इनमें पाँच गुणस्थान पाये जाते हैं । इन कपायों के समय भी सर्व-विरति चारित्र न होने से आहारक-द्विक का बन्ध नहीं हो सकता, पर तीर्थंकर नामकर्म

का रच हो सकता है। इसीसे इनमें भी सामान्यरूप से ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७ और पाँचव में ६७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व जानना ॥ १६ ॥

सञ्जलनत्रिके नव दश, सोहे चर अजह दु ति अनाणतिगे ।  
बारस अचक्वुचक्वुमु, पदमा अहन्वाय चरमचउ ॥१७॥

सञ्जलनत्रिक नव दश लाभे चत्वार्ययते द्वे शीष्यज्ञानत्रिके ।

द्वादशाऽचक्वुचक्वुपो\* प्रथमानि यथाख्याते चरम चत्वारि ॥१७॥

अर्थ—सञ्जलन त्रिक ( सञ्जलन क्रोध, मान, माया ) में ६ गुणस्थान हैं । सञ्जलन लाभ में १० गुणस्थान हैं । ( सयम, ज्ञान, और दर्शन मार्गणा का बन्धस्वामित्व )—अत्रिरति में ४ गुणस्थान हैं । अज्ञान त्रिक में—गति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभगज्ञान में—दो या तीन गुणस्थान हैं । अचक्वुदर्शन और चक्वुदर्शन में पहिले १० गुणस्थान हैं । यथाख्यातचारित्र में अन्तिम ४ अथात् ग्यारहव से चौदहवें तक गुणस्थान हैं ॥१७॥

भावार्थ—

सञ्जलन । ये ५पाव ४ हैं । जिन में से क्रोध, मान और माया में ६ तथा लाभ में १० गुणस्थान हैं । इन चारों कपाया का बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से और विशेषरूप से अपने अपने गुणस्थानों में—व्याधिकार के समान ही है

अविरति । इस में पहले ४ गुणस्थान हैं । जिनमें से चौथे गुणस्थान से मन्मथ होने के कारण तीर्थंकर नामकर्म कथन का सम्भव है, परन्तु आहारकद्विक का बन्ध—जोकि समय सापेक्ष है—इस में नहीं हो सकता । इसलिये अविरति में सामान्यरूप से आहारकद्विक के सिवाय ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

अज्ञान-त्रिक । इसमें दो या तीन गुणस्थान हैं । इसलिये इसके सामान्यबन्ध में से जिननामकर्म और आहारक-द्विक, ये तीन प्रकृतियाँ कम कर दी गई हैं, जिससे सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, और तीसरे में ७४ प्रकृतियों का बन्ध स्थायित्व है ।

अज्ञान-त्रिक में दो या तीन गुणस्थान ७ माने जाने का आशय यह है कि तीसरे गुणस्थान में वर्तमान जीवों की दृष्टि न तो सर्वथा शुद्ध होती है और न सर्वथा अशुद्ध, किन्तु किसी अंश में शुद्ध तथा किसी अंश में अशुद्ध-मिश्र होती है । इस मिश्रदृष्टि के अनुसार उन जीवों का ज्ञान भी मिश्र-

○ इसका धोर भी सुजाता चौथे कमग्रन्थ में २० वीं गाथा की व्याख्या में दखा ।

रूप-रिमी अरा में ज्ञानरूप तथा किसी अरा में अज्ञानरूप-  
 माना जाता है। \*जब दृष्टि की शुद्धि की अधिकता के कारण  
 मिश्रज्ञान में ज्ञानत्वकी मात्रा अधिक होती है और दृष्टिकी अशुद्धि  
 की कमी के कारण अज्ञानत्व की मात्रा कम, तब उस मिश्रज्ञान  
 को ज्ञान मान कर मिश्रज्ञानी जीवों की गिनती हानी जीवों म-  
 की जाती है। अतएव उस समय पहले और दूसरे दो गुणस्थान  
 के समन्धी जीव ही अज्ञानी समझने चाहिये। पर जब दृष्टि क  
 अशुद्धि की अधिकता के कारण मिश्रज्ञान म अज्ञानत्व की मात्र  
 अधिक होती है और दृष्टि की शुद्धि की कमी के कारण ज्ञानत्वका  
 मात्रा कम, तब कम मिश्रज्ञान को अज्ञान मान कर मिश्रज्ञानी  
 जीवों की गिती अज्ञानी जीवों में की जाती है। अतएव उस  
 समय पहले, दूसरे और तीसरे इन तीनों गुणस्थानों के,  
 समन्धी जीव अज्ञानी समझने चाहिये। चौथे से लेकर आठ  
 के तब गुणस्थानों के समय सम्यक्त्व-गुण के प्रकट होने स  
 जीवों की दृष्टि शुद्ध ही होती है-अशुद्ध नहीं, इसलिये इन  
 जीवों का ज्ञान ज्ञानरूप ही (सम्यग्ज्ञान) माना जाता है, अज्ञान  
 नहीं। रिमी क ज्ञान की यथायथा या अवयवार्थता का निर्णय,  
 कर्मकी दृष्टि(प्रदात्मक परिणाम)की शुद्धि या अशुद्धि पर निर्भर है।

\* जो मिश्रज्ञान गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान म आता है उसका  
 मिश्रज्ञान में मिश्रज्ञानी अधिक होने स अशुद्धि विशेष रहती है, और  
 जी, मादरूप को बाद तीसरे गुणस्थान में आता है उसकी मिश्रज्ञान में  
 मादरूप अधिक होव स शुद्धि विशेष रहती है।

अचक्षुर्दर्शन और चक्षुर्दर्शन । इन में पहले १२ गुणस्थान हैं । इनका बन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से या प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान है ।

यथाख्यातचारित्र । इसमें अन्तिम ४ गुणस्थान हैं । उनमें से चौदहवें गुणस्थान में तो योग का अभाव होने से बन्ध शक्त ही नहीं । ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में बन्ध होता है, पर सिर्फ सातवेदनीयका । इसलिये इस चारित्र में सामान्य और विशेषरूप से एक प्रकृति ही का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये ॥ १७ ॥

मथनाथि सग जयाई, समइयछेय चउ दुनि परिहारे ।  
केवलदुगि दो चरमा-उजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥ १८ ॥

मनोज्ञाने सत यतादीनि सामायिकच्छेदे चत्वारि द्वे परिहारे ।  
केवलद्विके द्वे चरमेऽयतादीनि तव मतिश्रुतावाधिद्विके ॥ १८ ॥

अर्थ—मन पर्यायज्ञान में यत-प्रमत्तसंयत-आदि ७ अर्थात् छठे से बारहवें तक गुणस्थान हैं । सामायिक और छेदोपरथापनीय चारित्र में प्रमत्तसंयत आदि ४ गुणस्थान हैं । परिहारविशुद्धचारित्र में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान हैं । केवल द्विक में अन्तिम दो गुणस्थान हैं । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवाधि द्विक में अयत-अविरतसम्यग्दृष्टि-आदि ६ अर्थात् चौथ से बारहवें तक गुणस्थान हैं ॥ १८ ॥

## भार्य—

मनःपर्यायज्ञान । इसका आभिर्भाव तो मातृगुणस्थान में होता है, पर इसकी प्राप्ति होने के बाद मुनि, प्रमाद-का छट्टे गुणस्थान को वा भी लेता है । इस ज्ञान को धारण करके धारण, पहले पाँच गुणस्थानों में वर्तमान नहीं रहता । उन अन्तिम दो गुणस्थानों में भी यह क्षण नहीं रहता, क्योंकि इन दो गुणस्थानों में छादिकक्षा होने के कारण किसी छायोपरमिक ज्ञान का सम्भव ही नहीं है । इसलिये मातृगुणस्थान में उपर्युक्त ७ गुणधारण माने हुये हैं । इसमें आहारकद्विक के पन्थ का भी सम्भव है । इसमें इस ज्ञान के सामान्यरूप से ६५ और छट्टे से धारणके तत्क प्रत्येक गुणस्थान में वधाधिकार के समान दो प्रकृतियों का वधापरमिक सममना ।

सामान्य और छट्टेपस्थापनीय । ये दो समय छट्टे धारण ४ गुणस्थान पर्यन्त पाये जाते हैं । इसलिये इनके समय आहारकद्विक के पन्थ का सम्भव है । अतएव इन समयों का वधापरमिक सामान्यरूप से ६५ प्रकृतियों का और छट्टे धारण प्रत्येक गुणस्थान में वधाधिकार के समान ही है ।

परिहारविशुद्धिकसयम । इसे धारण करनेवाला सातवें धारण के गुणस्थानों को नहीं पा सकता । इस समयके समय वधापरमिक

आहारक—द्विक का उदय नहीं होता, पर उसके बन्ध का सम्भव है। इसलिये इसका बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से ६५ प्रकृतियों का और विशेषरूप से बन्धाधिकार के समान—अर्थात् छठे गुणस्थान में ६३, सातवें में ५६ या ५८ प्रकृतियों का है।

केवलद्विक। इसके दो गुणस्थानों में से चौदहवें में तो बन्ध होता ही नहीं, तेरहवें में होता है पर सिर्फ सातवेदनीय का। इसलिये इसका सामान्य तथा विशेष बन्धस्वामित्व एक ही प्रकृति का है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अविधिद्विक। इन ४ मार्गणाश्रयों में पहले तीन गुणस्थान तथा अन्तिम दो गुणस्थान नहीं होते, क्योंकि प्रथम तीन गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व न होने से अज्ञान माना जाता है, और अन्तिम दो गुणस्थानों में ज्ञान होता है तथा पर वह प्रायिक, प्रायोपशमिक नहीं। इसी कारण इनमें प्रत्येक ६ गुणस्थान माने हुये हैं। इन ४ मार्गणाश्रयों में भी आहारकद्विक के बन्ध का सम्भव होने के कारण सामान्यरूप से ७६ प्रकृतियों का और चौथे में चारहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व जानना ॥ १८ ॥

\* परिहारविशुद्ध समयी को दम पूव का भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इसमें उसको आहारक द्विक का उदय असम्भव है, क्योंकि इसका उदय पुरुषपूर्वपारी जा कि आहारक शरीर को, बना संज्ञता है—उसी को होता है।



“ दो गाथाओं से सम्यक्त्व मार्गणा का ब-पत्वामित्व ।”

अठउवसमि चठ वेचगि, खइये इयहार मिच्छतिगि देस।  
मुदूमि सवाथ तेरस, आहारमि नियनियगुणोंहो ॥१६॥

अष्टोपसमे चत्वारि वेदक स्याथिक एकादश मिध्यात्वत्रिके देह ।  
सूक्ष्मे त्वस्थान त्रयोदशाऽऽहारके निचनिजगुणोंथ ॥ १९ ॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्व में आठ-चौथे से ग्यारहवें तक गुणस्थान हैं। वेदक (सायोपसामिक) में ४ गुणस्थान—चौथे से सातवें तक—हैं। मिध्यात्व त्रिक में (मिध्यात्व, मास्वादन और मिमरुष्टि में), देशविरति में और नूहमसम्पराय में अपना अपना एक ही गुणस्थान है। आहारक मार्गणा में १३ गुणस्थान हैं। वेद त्रिक से लेकर यहाँ तक की सब मार्गणाओं का बन्ध स्वामित्व अपने अपने गुणस्थान के विषय में ओष-व-घाथि कार के समान-है ॥१६॥

### भावार्थ

उपशम सम्यक्त्व । यह सम्यक्त्व, देशविरति, प्रसन्न सयत विरति या अपमचसयत-विरति के साथ भी प्राप्त होता है। इसी कारण इस सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक ४ गुण स्थान माने जाते हैं। इसी प्रकार आठवें से ग्यारहवें तक ४ गुणस्थानों में कतमात्र उपशमअर्थावाले जीव की भी यह सम्यक्त्व रहता है। इसलिये इसमें सब मिलाकर ८ गुणस्थान कहें

हूये हैं। इस सम्यक्त्व के समय आयु का बन्ध नहीं होता-  
यह बात अगली गाथा में कहा जायगी। इसमें चौथे गुणस्थान  
में तो देवआयु, मनुष्यआयु, दोनों का बन्ध नहीं होता और  
पाचवें आदि गुणस्थान में देवआयु का बन्ध नहीं होता। अत-  
एव इस सम्यक्त्व में सामान्यरूप से ७७ प्रकृतियों का, चौथे गुण-  
स्थान में ७५, पाचवें में ६६, छठे में ६२, सातवें में ५८, आठवें में  
५८ ५६-२६, नववें में २२-२१ २०-१६-१८, दसवें में १७  
और ग्यारहवें गुणस्थान में १ प्रकृति का बन्धस्वामित्व है।

**वेदक।** इस सम्यक्त्व का सभब चौथे से सातवें तक  
चार गुणस्थानों में है। इसमें आहारक द्विक के बन्ध का सभब है  
मिंस। इसका बन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से ७६ प्रकृतियों  
का, विराप रूप से—चौथे गुणस्थान में ७७, पाचवें में ६७,  
छठे में ६३ और सातवें में ५६ या ५८ प्रकृतियों का है।

**घायिक।** यह चौथे से चौदहवें तक ११ गुणस्थानों में  
पाया जा सकता है। इसमें भी आहारकादिक का बन्ध हो  
सकता है। इसलिये इसका बन्धस्वामित्व, सामान्यरूपसे ७६  
प्रकृतियों का और चौथे आदि प्रत्येक गुणस्थान में वधा-  
विघारक समान है।

**मिथ्यात्व त्रिक।** इसमें एक एक गुणस्थान है—मिथ्यात्व  
काल्या में पहला, सारवादन भार्गवा में दूसरा और मिषरट्टि

य तीसरा गुणस्थान है। अतएव इस त्रिक का सामान्य विशेष बन्धस्वामित्व बराबर ही है, जैने—सामान्य तथ विशेषरूप से मिथ्यात्व में ११७, सास्वादन में १०१ और मिश्रदृष्टि में ७४ प्रकृतियों का।

देशविरति और सूक्ष्मसम्पराय। ये दो समय भी एक एक गुणस्थान ही में माने जाते हैं। वराविरति, फल पांच गुणस्थान में और सूक्ष्मसम्पराय, केवल दसवें गुणस्थान है। अतएव इन दोनों का बन्धस्वामित्व भी अपने अपने गुणस्थान में बड़े हुये बन्धाधिकार के समान ही है अर्थात् देशविरति का बन्धस्वामित्व ६७ प्रकृतियों का और सूक्ष्मसम्पराय का १७ प्रकृतियों का है।

आहारकमार्गणा। इसमें तेरह गुणस्थान माने जाते हैं इसका बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से तथा अपने प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान है ॥ १६ ॥



“ उपशम सम्यक्त्वं के सम्बन्ध में कुछ विशेषता दिखाते हैं — ”

परमुषसमि वृता, आउ न वगति तेण अजयगुणे ।  
 उवमणुआउहीणो, देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥२०॥”  
 तमुपशमे वर्तमाना आयुर्न वन्नति तेनायतगुणे ।  
 तिमनुनायुहीनो देसादिपु पुन सुरायुनिना ॥ २० ॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्वं में वर्तमान जीव, आयु-बन्ध नहीं करते, इससे अयत—अनिरतसम्यग्दृष्टि—गुणज्ञान में विधातु तथा मनुष्य-आयु को छोड़कर अन्य प्रकृतिया का अर्थ होता है । और अशान्ति आदि गुणस्थानों में उवमणु-विना अन्य स्वयोग्य प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

भावार्थ—अन्य सम्यक्त्वा की अपेक्षा औपशमिक स्वस्त्वम विशेषता यह है कि इसमें वर्तमान जीव के अयत-

• इस भाषा के विषय को स्पष्टता के साथ प्राचीन धर्मग्रन्थों में स्पष्ट रूप से कहा है —

“उवमणुमे वृता, अउवमणुमिपकपि आउय नय ।  
 अउति तेण अजया, सुरनर आउहि उणतु ॥ २१ ॥

आप देव उवाइसु, सुराउहीणो उ जाय उयसतो’ इत्यादि । २३।

वसाय जेष्ठे ऽ नहीं होत, जिनसे कि आयु-वध किया  
 सके। अतएव इस सम्यक्त्व के योग्य ८ गुणस्थान  
 पिछली गाथा में फहे गये हैं उनमें से चौथे से सातों तक  
 गुणस्थानों में—जिनमें कि आयु-वन्ध का सम्भव है—आयु-वन्ध  
 नहीं होता।

चौथे गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्वी को देवभायु, मनुष्य  
 भायु दा का वजन इसलिये किया है कि वसमें इन  
 भायुओं के हा वधका सम्भव है, अन्य आयुओं के व

उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है—पहले प्रकार का प्रथम  
 आयु का पहले पहल अनादि निम्नवर्ती को होता है। दूसरे प्रकार  
 उपशमभ्रष्टि म हान वाजा, या चाठवें से स्यादह्यें तक ४ गुणस्थान  
 में पाया जा सकता है। पिछले प्रकार के सम्यक्त्व-सम्बन्धी गुणस्थान  
 में तो आयु का वध संभव वर्जित है। यह पहले प्रकार के सम्यक्त्व  
 सम्बन्धी वध से सातों तक ४ गुणस्थान। से इनमें भी चापशमि  
 सम्प्रतवी आयु-वन्ध नहीं कर सकता। इसमें प्रमाण यह पाया  
 है —

अयुःकपोदपमाउमवध काळ च सासयो जुष्यते ।

उपसममम्यदिहा अउरुहमिक्कपि नो जुष्यते ॥ १ ॥'

अथवा अतन्नाजुवधी कपाय का वध उसका उदय, आयु  
 वन्ध और मरणा-दन ४ कार्यो को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कर सकता  
 पर इन में से एक भी कार्य का उपशम सम्यग्दृष्टि नहीं कर सकता।

इस प्रमाण ॥ परी निरु होता है कि उपशम सम्यक्त्व के स  
 आयु-वन्ध-वाग्य परिचाम नहीं होते।

प्र नहीं, क्योंकि चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव तथा नारक, अनुग्रहायु को ही बाध सकते हैं और तिर्यञ्च तथा मनुष्य, वधायु को ही ।

अपराध सम्यक्स्त्री के पाचवे आदि गुणस्थानों के वध में ननु वधायु को छाड़ दिया है । इस का कारण यह है कि उन गुणस्थानों में केवल देवत्रायु के बन्ध का सम्भव है, क्योंकि सब गुणस्थान के अधिकारी तिर्यञ्च तथा मनुष्य ही हैं और वे सब गुणस्थान के अधिकारी मनुष्य ही हैं, जो केवल वधायु का बन्ध कर सकते हैं ॥ २० ॥

“ नो गायत्र्यां मे लेख्या का बन्धस्वामित्वात् ।”

अहारासय, आहारदुग्ण-मांसेसतिगे ।

निधोय मिच्छे, साणाइमु सव्वहिं ओहो ॥ २१ ॥

अष्टादशसतमाहारकद्विकोनमादिलेश्या त्रिके ।

निधोय निध्यादरे सासादनादिषु सर्वत्रौष ॥ २१ ॥

अर्थ—पहली तीन—कृष्ण, नील, कापोत—लेख्याओं में आहारक द्विक को छोड़, १२० में से शेष ११८ प्रकृतियों में औष—सामान्य—बन्धस्वामित्व है । मिथ्यात्व गुणस्थान में अंधकार नामकर्म के सिवाय ११८ में से शेष ११७ का बन्धस्वामित्व है । और सास्वादन आदि अन्य सब—दूसरा, अष्टा, चौथा तीन—गुणस्थानों में औष ( बन्धाधिकार के अर्थ ) प्रकृति यथ है ॥ २१ ॥

भावार्थ—लेश्याये ६ हैं —( १ ) कृष्ण, ( २ ) नाल,  
( ३ ) चापोत, ( ४ ) तेज, ( ५ ) पद्म और ( ६ ) शुक्ल।

कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले आहारक द्विक को प्रम  
कारण बाध नहीं सवने कि वे 'अधिक से अधिक प्र  
गुणस्थानों में वर्तमान माने जाते हैं, पर आहारकद्विक का  
बाध सातवें के सिवाय अन्य गुणस्थानों में नहीं होता। अत  
एव वे सामान्यरूप में १९८ प्रकृतियों के, पहले गुणस्थान में  
तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय १९७ प्रकृतियों के, दूसरे में  
१०९, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों के  
बाधाधिकारी हैं ॥ २१ ॥

\* 'अधिक से अधिक' करने का मतलब यह है कि पद्यि  
कर्मप्रप ( गाथा २४ ) में कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले, ४ गुण  
स्थानों ही के अधिकारी माने गए हैं, पर चौथे कर्मप्रप ( गाथा २१ )  
में उन्हें १ गुणस्थान के अधिकारी बतलाया है।

† चौथे गुणस्थान के समय कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में  
प्रकृतियों का बाधस्वामित्व 'सायाहसु स्याहि धोहो' इस कथन  
माना हुआ है।

इसका उल्लेख प्राचीन बाधस्वामित्व में स्वरूप से है —

'मुरनराभाउयमाहिया, अत्रिरयसम्माड होंति नापन्वा ।

तित्ययेष जुया तद, तदलस पर चोष्ण ॥ ४२ ॥'

इससे यह बात स्पष्ट है कि उक्त ७७ प्रकृतियों में मनुष्य का  
की तरह द्रव आधु की गिाती है। गोभट्टर में बाधोदयसत्त्  
धिकार की गाथा १११ वीं में वेद-नार्ग्या से लेकर आहारक-नाग  
पर्यन्त सब मायात्माओं का बाधस्वामित्व, गुणस्थान के सनात कहा है।

तत्र नरपनषुणा, उज्जोयचउ नरयवार विणु सुका ।  
विणु नरयवार पम्हा, अजिखाहारा इमा मिच्छे ॥२२॥

तेजेनरकनवोना उद्योतचतुर्नरकडादस विना शुक्का ।

विना नरकद्वादश पद्दा अजिनाहारका इया मिथ्यात्वे ॥२२॥

र शरीरार्थों में लेशमा भागणा का समावेश है। इससे कृष्ण आदि  
लेश्याओं का चतुर्थ गुणस्थान-सम्बन्धी ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामि  
सम्बन्ध का भी अभिमत है। क्योंकि उसने बन्धोदयसत्त्वा  
का भी गा० १०३ में चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध  
सम्बन्ध माना हुआ है।

इस प्रकार कृष्ण आदि तीन लेश्या के चतुर्थ गुणस्थान सम्बन्धी  
सम्बन्ध के विषय में कर्मग्रन्थ और शोभनसार (कर्मकाण्ड)  
में कोई मतभेद नहीं है।

पण्डु इन पर श्री जीयविजयजी ने और श्री जयसोमसरि ने  
कहा कि धरने अपने डबे में एक शका उठाई है, वह इस प्रकार है -

"कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले, जो चौथे गुणस्थान में ब्रह्ममा  
न हो देव आयु का बन्ध माना नहीं जा सकता, क्योंकि श्री  
सिद्धांत शतक ३० के पहले उद्देश में कृष्ण-नील कापोत  
का मत, जो सम्यक्स्वी है उनके आयु-बन्ध के सम्बन्ध में श्रीगौतम  
स्वामी के प्रश्न पर भगवान् महावीर ने कहा है कि- 'कृष्ण आदि तीन  
लेश्यावाले सम्यक्स्वी, मनुष्य आयु ही वो बाध सकते हैं, अन्य आयु  
नहीं। उसी उद्देश में श्रीगौतम स्वामी के अन्य प्रश्न का उत्तर देते  
भगवान् ने यह भी कहा है कि- 'कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले त्रियज्ञ  
मनुष्य, जो सम्यक्स्वी हैं वे किसी भी आयु का नहीं बाधते।'  
स्वामी का सारांश इतना ही है कि उक्त तीन लेश्यावाले सम्य  
स्वी, जो मनुष्य आयु का बाध होता है, अन्य आयुओं का नहीं,



अर्थ—तेजोलया का बन्धस्वामित्व नरक-नवक-नरक-त्रिक, सूक्ष्मत्रिक और विकल-त्रिक—के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का है। उद्योत-धनुःक (उद्योत नामधर्म, तिर्यच-त्रिक, तिर्यच आयु) और नरक द्वादश (नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय, म्यावर, आतप) इन सोलह प्रकृतियों का

सो भी दसों तथा गारकों की अपवाप्त। भीमगवती के उग्र मत्तानुसंग हृण्य आदि तीन खरयाधों का धनुष गुणस्थान-सम्बन्धी बन्धस्वामित्व देव आहु-रहित अर्थात् ७६ प्रकृतियों का माना जाना चाहिए, कमप्रथ में ७७ प्रकृतियों का माना गया है।

उग्र शका ( विरोध ) का समाधान कहीं दिया नहीं गया है। उपाकारों ने बहुश्रुत गन्ध कह कर उस झोक दिया है। गौम्मदसार में इस शका के लिये उग्र ही नहीं है। क्योंकि इसे भगवती का वा मान्य करन का आग्रह नहीं है। पर भगवती का माननेवाले का प्रथियों के लिये यह शका उपेक्षणीय नहीं है।

उग्र शका के सम्बन्ध में जब तक किसी की ओर से पूर्ण सामायिक समाधान प्रकट न हो, यह समाधान मान लेने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती कि हृण्य आदि तीन खरयावाले सम्बन्धित प्रकृति-वर्ग में उपमायु की गणना की गयी है सो कार्मप्रन्धिक के अनुसार सैदान्तिक मत के अनुसार नहीं।

कमप्रथ और सिद्धान्त का किसी २ विषय में मत भेद है, उद्योत और कार्मप्रथ की ७६ की भाषा में उल्लिखित सैदान्तिक मत निर्विवाद सिद्ध है। इसलिये इस कमप्रथ में भी उग्र देव आहु बन्ध होने न होने के सम्बन्ध में कार्मप्रथ और सिद्धान्त का मत मान कर आपस के विरोध का परिहार कर लेना अनुचित नहीं।

शुक्ललेश्या। यह लेश्या पहले १३ गुणस्थानों में पायी जाती है। इसमें पद्मलेश्या से विशेषता यह है कि पद्मलेश्या की अर्ध—नहीं गँवने योग्य—प्रकृतियों के अलावा और भी प्रकृतियों ( उद्योत चतुष्क ) इसमें घावी नहीं जाती। इसका कारण यह है कि पद्मलेश्या वाले, तिर्यञ्च में जहाँ कि उद्योत चतुष्क का उदय होता है—जन्म ग्रहण करते हैं, पर शुक्ललेश्या वाले, उसमें जन्म नष्ट लेते। अतएव शुक्ल १६ प्रकृतियों सामान्य घन्ध में गिनी नहीं जाती। इसमें शुक्ल

• इस पर एक शका होती है। सो इस प्रकार —

ग्यारहवां गाथा में तीसरे से आठवें देवलोक तक का बन्धस्वामित्व कहा है इसमें छठे सप्तम और आठवें देवलोकों का—निम्न तत्त्वार्थ प्रमाण ४ सूत्र २३ के भाष्य तथा मगधगी गाथा १७२ के अनुसार शुक्ल करना ही मानी जाती है बन्धस्वामित्व भी आजाता है। ग्यारहवीं गाथा में यह लुके छठे आदि तीन देवलोकों के बन्धस्वामित्व के अनुसार, शुक्ललेश्या वाले भी उद्योत चतुष्क में दाख सकते हैं, पर इस ग्यारहवां गाथा में शुक्ल लेश्या का तो सामान्य बन्धस्वामित्व कहा गया है उसमें उद्योत चतुष्क को नहीं गिना है, इसलिये यह प्रकार विराध है।

श्री जीमविजयजी और श्री जयसोमसूरिन भी अपने अपने ग्रंथों में उक्त विराध को दसाया है।

श्री दिगम्पराय कर्मशास्त्र में भी इस कर्मग्रन्थ के समान ही धर्मानुसार (कर्मशास्त्र गा० ११२) में सइसूर देवलोक तक शुक्ल कहा गया है उसमें इस कर्मग्रन्थ की ग्यारहवीं

प्रकृतियाँ को बाँध नहीं सकते । क्योंकि उक्त ६ प्रकृतियाँ, कृष्ण  
 आदि तान अशुभ लेश्याओं में ही बाँधी जाती हैं । इसलिये  
 तेजोलेश्या वाले, उन स्थानों में पैदा नहीं होते जिनमें—नरक  
 गति, सूक्ष्म एषेन्द्रिय, और त्रिफलेन्द्रिय में—उक्त ६ प्रकृतियों  
 का उद्भय होता है । अतएव तेजोलेश्या में सामान्यरूप से १११  
 प्रकृतियाँ का, पहले गुणस्थान में तार्किकरनामकम और आहा  
 रक द्विज के सिवाय १११ में से शेष १०८ का और दूसरे  
 में सातव तक शत्यन गुणस्थान में षा गणितार के अनुसार  
 व्यवस्थामित्य है ।

पद्मलेश्या । यह भी पहले मात्र ही गुणस्थानों में पायी  
 जाती है । तेजोलेश्या से इसमें विशेषता यह है कि इसके  
 धारण करने वाले उक्त नरक नरक के अतिरिक्त एकेश्वर

शुक्ललेश्या। यह लेश्या पहले १३ गुणस्थानों में पायी जाती है। इसमें पद्मलेश्या से विशेषता यह है कि पद्मलेश्या की अग्रन्ध—नहीं बाँधने योग्य—प्रकृतियों के अलावा और भी ४ प्रकृतियाँ ( उद्योत-चतुष्क ) इसमें गिनी नहीं जाती। इसका कारण यह है कि पद्मलेश्या वाले, तिर्यञ्च में जहाँ कि उद्योत चतुष्क का उदय होता है—जन्म ग्रहण करते हैं, पर शुक्ललेश्या वाले, उसमें जन्म नहीं लेते। अतएव एतत् १६ प्रकृतियाँ सामान्य घन्ध में गिनी नहीं जाती। इससे शुक्ल

इस पर एक शका होती है। सो इस प्रकार —

श्वारहवीं गाथा में तीसरे से आठवें देवलोक तक का अन्धस्यामित्व कहा है इसमें छठ अक्षर आठवें देवलोकों का—चिन्म तराध अर्थात् ४ मूत्र २३ के भाष्य तथा मगहरी गाथा १७५ क अनुमार शुक्ल लेश्या ही माना जाती है अन्धस्यामित्व भी प्राजाता है। अतएव तीसरी गाथा में कहे गये छठ आदि तीन देवलोकों के अक्षरामित्व क अनुसार, शुक्ललेश्या वाले भी उद्योत चतुष्क के बाध सकते हैं, पर इस तीसरी गाथा में शुक्ल लेश्या का जो सामान्य अन्धस्यामित्व कहा गया है उसमें उद्योत चतुष्क को नहीं गिना है, इसलिये यह पूर्वापर विरोध है।

श्री जीवविजयजी और श्री जयसोमसूरिन भी अपने अपने र्वे में उक्त विरोध को दर्शाया है

द्विगम्यरीय कमगात्र में भी इस कर्मग्रन्थ के समान ही वर्णन है। गोमटसार (कर्मशास्त्र गा० ११२) में सप्तसूर देवलोक तक का जो अक्षरामित्व कहा गया है उसमें इस कमग्रन्थ की श्वारहवीं

लया का अधस्वामित्व सामान्यरूप से १०८ प्रकृतियाँ का  
मिथ्यात्व गुणध्वान्त म विननामकर्म और आहारक द्विक :

गधा क समान हा उद्योत चतुष्क परिगणित है । तथा कमकाण्ड १  
१ म शुक्लसरया का अधस्वामित्व कहा हुआ है जिसमें उक्त  
चतु क का वक्त है ।

इस प्रकार कर्मध्वान्त तथा गोम्भटमार म अधस्वामित्व समा  
हान पर भी ऋग्वेदीय शास्त्र में उपयुक्त विरोध नहीं जाता । क  
कि ऋग्वेद म क अनुसार लातप ( रथताम्बर प्रसिद्ध लातक  
प्रज्ञाक में पद्मसरया हा है (तत्वाय अध्याय ४ सू २२की तथाधर्मा  
टाका) । ऋग्वेद दिग्भराय सिंग मानुमार यह कहा जा सकता है ।  
सहस्रार दरलोक पयत्त क अधस्वामित्व म उद्योत चतुष्क का परिगणन  
है मा पद्मसरया बाला की अपेक्षा स, शुक्लसरया बाला की  
अपेक्षा से नहै ।

पुनः तत्रैव भाष्य सप्तह्यसि चादि रथताम्बर शारद  
म देवराज की कथा के विषय में जैसा उल्लेख है उसके अनुसार  
वस्तु विरोध क परिहार नहीं होगा ।

यथावद्द विरोध क परिहार क नियम भा जौगोपिजयनी  
पुष्ट भी नहीं है । हा ह पर भी जयसोमसूरि न ता यह लिखा है कि  
उक्त विरोध का दूर करन क नियम यह मानना चाहिये कि नवम  
धादि दमकाका म ही केवल सुवतनरया ह ।

एत जसो के परिहार म श्री जयसोमसूरि का कथन, ध्या  
दन य प है । उक्त कथन क अनुसार दृढ धादि तीन दरजाका म पद्म  
शुभन का नियम में धीर नयन धादि स्वलोको में कवच सुवत लम्प  
नयन एत म उक्त विरोध दूर जात ह ।



शेष ६७ प्रकृतियाँ का है । तीसरे से लेकर तेरहवें तक प्रत्येक गुणस्थानमें वह बन्धाधिकार के समान है ॥ २२ ॥



“भव्य, अभव्य, सक्षी, असक्षी और अनाशरफ  
मार्गणा का बन्धस्वामित्व ।”

भव्यगुण भव्यसन्निभु, थोडु अभव्या असनि मिच्छसमा ।  
सासाखि असनि सन्निच, कम्मगुभगो अणाहार ॥२३॥  
सव्यगुण भव्यसन्निष्योघोऽभव्या असन्निनो मिध्यासमा ।  
सासादनेऽसक्षी सन्निवत्कामणभगोऽनाहारे ॥ २३ ॥

अर्थ—मन (चौदह)गुणस्थान वाले भव्य और सक्षियों का बन्धस्वामित्व बन्धाधिभार के समान है । अभव्य और असक्षियों का बन्धस्वामित्व मिथ्यात्व मार्गणा के समान है । सास्वादने गुणस्थान में असक्षियों का बन्धस्वामित्व सज्ञा के

“ क्विप्पत्थीसु ए तिथि सदरसहस्सारगोत्ति तिरियदुग ।  
तिरिपाऊ उज्जायो, अत्थि तदो एत्थि सदरचऊ ।  
( कर्मपाण्ड ना १११ )

सुके सदरचउऊ धामतिभवारस च ए थ अत्थि  
( कर्मपाण्ड ना १०१ )

ब्रह्मलोकत्रयोत्तरला तवकापिष्टेषु पद्मलेश्या ।  
महाशुक्रशतारसहसारेषु पद्मशुक्ललेश्या । ( मयार्याखिदि

मान है। अनाहारक मार्गणा का बन्धस्वामित्व कार्मण योग  
 बन्धस्वामित्व के समान है ॥२३॥

### भावार्थ

भय और सङ्गी—ये चौदह गुणस्थानों के अधिकारी हैं।  
 इनमें इनका बन्धस्वामित्व, सब गुणस्थानों के विषय में  
 कारिण के समान हो है।

अभय—ये पहिले गुणस्थान में ही वर्तमान होते हैं।  
 इनमें सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति न होने के कारण  
 कार्यर नामक तथा आहारक-द्विक के बन्ध का सम्मन ही  
 नहीं है। इसलिये ये सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में  
 गण्डकर नामक आदि उक्त तीन प्रकृतियों को छोड़कर  
 १०० में से शेष ११७ प्रकृतियों के बन्ध के अधिकारी हैं।

असङ्गी—ये पहिले दूमेरे दो गुणस्थानों में वर्तमान पाये  
 जाते हैं। पहिले गुणस्थान में इनका बन्धस्वामित्व मिध्यात्न  
 के समान है, पर दूमेरे गुणस्थान में सङ्गी के समान, अर्थात्  
 ये असङ्गी, सामान्यरूप से तथा पहिले गुणस्थान में तीर्थ-  
 पर नामक आदि उक्त तीन प्रकृतियों को छोड़कर, शेष  
 ११७ प्रकृतियों के बन्धाधिकारी हैं और दूमेरे गुणस्थान में  
 १०१ प्रकृतियों के।



अनाहारक—वह मार्गणा पन्डिते, दूसरे, चौथे, तेरहवें और चौदहवें—इन ५ गुणस्थानों में पाइ जाता है। इनमें से पहिला, दूसरा, चौथा व तारा गुणस्थान उस समय होते हैं जब समय नि जाय दूसरा स्थानमें पैदा होने लिये विप्रह गति स चाते ह, उस समय एक नो या तान समय पर्यन्त जीव का शोदारिक अन्ति स्थान शरीर नहीं होते इमलिये अनाहारक प्रवस्था रहता है। तेहरवें गुणस्थान में केवल समुद्घात क तासर, चौथे और पाचवें समय में अनाहारक रहता है। इन तरफ चौदहवें गुणस्थान में भा योग का निरोध-अभाव हो जाने से किसी तरफ के आहार का सम्भव नहीं है। पर तु चौदहवें गुणस्थान में तो बन्ध का सबथा अभाव ही है इमलिये शेष चार गुणस्थानों में अनाहारक के बन्धन्यामित्य का सम्भव है, जो कर्मण्युपाययोग क बन्धन्यामित्य के

† यथा - पदमेतिसदुगधनया अन्धहार मगणानु गुणः।

[तुत्रैकमेप्रथ गाथा २१]

यही बात गोमटसार में इस प्रकार कही गई है -

‘विगाहगदिमात्रणः कवलिया समुद्यन्त अजागाय ।

सिप्या य अथाहारा मया आहारथा नीजा ॥’

( नीव गा ११५ )

अथानु विप्रह गति में वसमान जीव समुद्घात बाल केवली अयोगि नबली चार मित्र के अनाहारक है। इनके मियाय शेष सध जाय आहारक है।

११० ॥ अर्थात् अनाकारक का चरमामिदं मा-  
 ११० प्रवृत्तियों का, पहले गुणम्यानम १०७ ॥  
 ११० में ६५ का, चौथे में ७५ का और तेरहवें में एक प्रवृत्ति  
 ११० ॥ ३॥

लेख्याओं में गुणम्यान का स्थान ।

मिदु दुसु सुवकाइ गुणा, चउ सग तेरत्ति रयमापिन ।

दावदमूरिलिहिय, नेघ कन्म थय मोउ ॥ २४ ॥

द्वयो शुक्राया गुणाश्चत्वार सप्त तयादशति र गत्यामितम ।

पट्टमूरिलिहित तैय कमस्तय श्रुत्या ॥ २५ ॥

अर्थ—पहली तीन लेख्याओं में चार गुणम्यान हैं । १३  
 और पद्य दो लेख्याओं में पहिले मात्र गुणम्यान है । गुण-  
 म्यान पहले तेरह गुणम्यान है । इस प्रकार यह १३ गुण-  
 मयानों नामक प्रकरण—जिमका श्री देव-द्रमूरि ने रचा है—यका  
 नाम 'कमस्तय' नामक द्मरे कनप्रथ को जानकर जाना  
 चाहिये ॥ २४ ॥

भावार्थ—कृष्ण आदि पहली तीन लेख्याओं का  
 गुणमयानों में ही मानने का आशय यह है कि य राश्याओं  
 अशुभ परिणामरूप होने से आगे के अन्य गुणमयानों में पाई  
 नहीं जा सकती । पिछली तीन लेख्याओं में से चार और पद्य  
 में भी शुभ है मही, पर उनकी शुभता कुछ और स वर

कम होती है। इसमें व द्वा लेख्याएँ सातव गुणस्थान तक ही पायी जाती हैं। शुक्ल लभ्याका स्वरूप इतना शुभ हो सकता है कि वह तेरहव गुणस्थान तक पाया जाती है।

इस प्रकरणका 'वन्ध्यामित्य' नाम, इसलिये रक्खा गया है कि इसमें मागणाओं के द्वारा जीवों की प्रकृति ग्रन्थ-सम्बन्धिनी योग्यता का-वन्ध्यामित्य का-विचार किया गया है।

इस प्रकरण में जैसे मार्गणाओं को लेकर जीवों के वन्ध्यामित्य का सामान्यरूप से विचार किया है, वैसे ही गुणस्थानों को लेकर विशेष रूप से भी उसका विचार किया गया है, इसलिये इस प्रकरण के जिज्ञासुओं को चाहिये कि वे इस को असद्विधरूप से जानने के लिय दूसरे कर्मप्रथ का ज्ञान पहले संपादन कर लें। क्योंकि दूसरे कर्मप्रथ के वन्धाधिकार में गुणस्थानों को लेकर प्रकृति-ग्रन्थ का विचार किया है जो इस प्रकरण में भी आता है। अतएव इस प्रकरण में जगह जगह कह दिया है कि अमुक मागणा का वन्ध्यामित्य वन्धाधिकार के समान है।

इस भाषा में जैसे लेख्याओं में गुणस्थानों का वन्ध, वन्ध्यामित्य से अलग किया है वैसे अन्य मागणाओं में गुणस्थानों का वन्ध, वन्ध्यामित्य के वन्ध से अलग इस प्रकरण में कहीं नहीं किया है। इस का कारण इतना ही है कि अन्य मार्गणाओं में तो चितने जितने गुण ज्ञान चौथे कर्मप्रथ में दिखाये गये हैं उनमें कोई मत भेद नहीं है पर लेख्या के सम्बन्ध में ऐसा नहीं

इससे कमप्रय के मतानुसार कृष्ण आदि तीनों लेश्याओं  
 गुणस्थान है, परन्तु हम तीसरे कमप्रय के मत,  
 इनमें ४ ही गुणस्थान माने जाते हैं। अतएव इनमें  
 चार गुणस्थानों को लेकर ही प्रणय किया  
 है ॥ २४ ॥

निघण्टुनामक तीसरा कमप्रय

यथा— अस्मिन्नुपपद्यते, पदमनुगतं च

अथात् अमनी में पहले दो गुणस्थान हैं, दूसरे दो पहली  
 के लेश्याओं में चार तब तथा चार लेश्याओं में चार गुणस्थान  
 हैं। (चतुष्टय मर्म ३)

दृष्ट्या आदि तीन लेश्याओं में ४ गुणस्थानों यह मत,  
 'पंचमह' तथा 'प्राच्यान् च' नामक के अनुसार है।

"दृष्टेस्वा जाय सम्मोति" [पञ्चमह]

"दृष्टेस्वु निशिय तामु, दृष्टे सुखा शरत्ते" [पञ्चमह]

यही मत, गणमटमार का भा मान्य है।

"भावरकायस्पाहुदा, अविन्दसम्माति प्रमुहति  
 सप्योदो अपमत्तो, ताप दु महति" [पञ्चमह]

अथात् पहली तीन अक्षर लेश्याओं  
 गुणस्थान-पर्यन्त होती है और अतः की  
 हैं १२ लेश्या अपमत्त पर्यन्त होती हैं।

## परिशिष्ट क.

( १ ) गोम्मतसार के देखने योग्य स्थल-तीसरे कर्म-  
प्रश्न का विषय-गुरुस्थान का लेकर मागणार्थों में उपस्था  
मित्य का कथा गोम्मतसार में है, जो कर्मनाड का १०५ से  
१०९ तक है। इसका जानने के लिये चिन शर्तों का ज्ञान  
पहले आवश्यक है उनका मन्त्र का ६४ से १०४ तक है।

गुरुस्थान का लेकर मागणार्थों में उद्यम्यमित्य का  
विचार, जो प्राचीन या नवीन तावर कर्मग्रन्थ में नहीं है यह  
गोम्मतसार में है। इसका प्रकरण कर्मकांड का २६० में  
२३० तक है। इससे लिये चिन शर्तों का जानना आवश्यक  
है वे का २६३ में २८६ तक में संगृहीत हैं। इस उद्यम्य इतिमित्य  
का प्रकरण में उदीरणा इतिमित्य का विचार भी सम्मिलित है।

गुरुस्थान को लेकर मागणार्थों में सत्ता इतिमित्य का  
विचार भी गोम्मतसार में है, पर कर्मग्रन्थ में नहीं है। यह  
प्रकरण कर्मनाड का ३०६ से ३५६ तक है। इस के मन्त्र  
का ३३३ से ३७५ तक में है।

( २ ) शेताम्यर निगम्यर सप्रत्याय के समान असमान  
कृद्र मन्त्रव्य।

(१) कर्मग्रन्थ में तीसरे गुणस्थान में ध्यायु का वर्णन माना जाता है। गान्धर्वशास्त्र में भी गान्धर्वशास्त्र पृ-१५ ।

(२) पृथिवी, जल आदि मार्गणाश्रयों में दूसरे गुणस्थान में ६६ और ६४ प्रकृतियों का बन्धन मत भेद रे कर्मग्रन्थ में है। गान्धर्वशास्त्र में केवल ६४ प्रकृतियों का बन्धन है। गा १० की टिप्पणी पृ-३१-३० ।

एकेन्द्रिय में चतुरिन्द्रिय पर्यन्त चार इन्द्रिय मार्गणाश्रयों में तम पृथिवी, जल और धनस्पति तीन कायमार्गणाश्रयों में तम दूसरा दो गुणस्थान कर्मग्रन्थ में माने हुए हैं। गान्धर्वशास्त्र में कर्मशास्त्र को यही पक्ष सम्मत है, यह धारा तम गा ११३-११५ तक का विषय करने से स्पष्ट हो जाता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धिद्वारा का इस विषय में भिन्न मत है वे एकेन्द्रिय आदि उक्त चार इन्द्रियमार्गणाश्रयों में और पृथिवी, जल आदि उक्त तीन कायमार्गणाश्रयों में पहला ही गुणस्थान मानते हैं। ( इन्द्रियानुदानेन एकन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियैस्तन्पुण्यमवमि, गान्धर्वशास्त्रम्, कायानुदानेन पृथिवी, जल, धनस्पति, तन्पुण्येन एकमेव मि, गान्धर्वशास्त्रम्, तत्रार्थसिद्धिद्वारा का सवार्थसिद्धि ) सर्वार्थसिद्धि का यह मत गान्धर्वशास्त्र काण्ड गा ६७७ में निरूपित है ।

एकेन्द्रियों में गुणस्थान मानने के मत में गान्धर्वशास्त्र

संप्रदाय में दो पक्ष चले आते हैं। सैध्यान्तिक पक्ष ११, १२  
 पहला गुणस्थान (चतुर्थ कर्मपत्र गा ४८) का  
 कर्मग्रन्थिक पक्ष पहला दूसरा दो गुणस्थान मानता है (पंचमा  
 द्वा १ २८)। निगम्वर संप्रदाय में यही दो पक्ष देखने में आते हैं।  
 महाधसिधिव और जीवराण्ड में सध्यान्तिक पक्ष तथा कर्मका  
 म कामर्मा वरु पक्ष है।

(३) प्रौढारिकमिश्रकाययोग मार्गणा में सिध्यात्,  
 गुणस्थान में १०६ प्रकृतियों का बन्ध जैसा कर्मपत्र में है,  
 वैसा ही गोम्भटसार में। गा १४ की टिप्पणी पृ ३७-३६।

(४) प्रौढारिकमिश्रकाययोग मार्गणा में सन्ध्यात्  
 का ७५ प्रकृतिया का बन्ध ७ होता चाहिये किन्तु ७७ प्रकृ  
 ७१, ७२ का टिकार का मन्तव्य है। गोम्भटसार का यह  
 मत ४ अभिमत है। गा १५ की टिप्पणी पृ ४० ४१।

(५) आहारकमिश्रनाययोग में ६३ प्रकृतियों  
 का बन्ध कर्मपत्र में माना हुआ है, परन्तु गोम्भटसार में ६४  
 प्रकृतिया का। गा १५ की टिप्पणी पृ ४५।

(६) कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले सम्बन्धित्व  
 को सैध्यान्तिक दृष्टि से ७६ प्रकृतिया का बन्ध माना जान  
 चाहिये, जो कर्मपत्र में ७७ का माना है। गोम्भटसार भी उक्त  
 विषय में कर्मग्रन्थ के समान ही ७७ प्रकृतियों का ब  
 मानता है। गा २१ की टिप्पणी पृ ६० ६५।

(७) श्वेताम्बर संप्रदाय में देवलोक १२ माने हैं ।

(द्वार्य अथ ४ सू २० का भाष्य), परंतु त्रिगम्बर संप्रदाय में १६। (तत्त्वार्थ अथ ४ सू ८ की सर्वार्थसिद्धि) । श्वेताम्बर संप्रदाय २ अनुसार सनत्कुमार में सहस्रार पर्यन्त छः देवलोक हैं, पर त्रिगम्बर संप्रदाय के अनुसार १० । इन में ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक, शतार ये चार देवलोक हैं, जो श्वेताम्बर संप्रदाय में नहीं माने जाते ।

श्वेताम्बर संप्रदाय में तीसरे सनत्कुमार में लेकर चौथे ब्रह्मलोक पर्यंत केवल पद्मलेश्या और छठे लातक से लेकर ऊपर के सब देवलोकों में शुक्ल लेश्या मानी जाती है । परन्तु त्रिगम्बर संप्रदाय में ऐसा नहीं । उसमें सनत्कुमार, माहेन्द्र दो देवलोकों में तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ इन चार देवलोकों में पद्म लेश्या, शुक, महाशुक, शतार, सहस्रार चार देवलोकों में पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्या और आनत आदि शेष सब देवलोकों में केवल शुक्ल लेश्या मानी जाती है ।

कर्मग्रन्थ में तथा गोम्मटसार में शुक्ल लेश्या का बन्ध-  
ध्यामित्य समान ही है । गा २२ की टिप्पणी पृ ६७ ७० ।

(८) तीसरे कर्मग्रन्थमें कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ पहले चार गुणस्थानों में मानी हैं, गोम्मटसार और सर्वार्थ-  
सिद्धि में वही मत है । गा २४ की टिप्पणी पृ ७५ ।



(६) गतिप्रस—श्रेताम्बर विगम्बर दोनों सप्तमय म  
 तेन कायिक वायुनायिक जीव, म्यावर नामकर्म व उक्त क  
 फारण रसाधर माने गये हैं, नयापि श्रेताम्बर साहित्य म  
 अपेक्षा विशेष से उनके ग्रन्थ भी कहा है —

ते उ राज श पाच रा उराला य तसा तदा ।

इ चत तसा तिविहा, तसि भेष मृण्ड म ॥ ’

॥ उत्तराध्ययन अ ३६ गा १०७)

तत्रायाश्चो उ रसाधरनामकमाद्येऽप्युक्तरूप प्रसममतीति प्रसम्ब,  
 िया हि त् गतितो, छन्दितरच तेजावाद्यागतित उरारया च  
 ‘छिधतो वि प्रत्त्वामसि।’

(टीका वादिवनात शा।मरि)

‘ तत्रायाश्चो उ रसाधरनामकमाद्येऽप्युक्तरूप प्रसममतीति प्रसम्ब,  
 िया हि त् गतितो, छन्दितरच तेजावाद्यागतित उरारया च  
 ‘छिधतो वि प्रत्त्वामसि।’ (तत्रार्थ अ २१४ भा य टीका ) ।

दुषिहा सतु सपीया छन्दितसा धेव गङ्गसा चय

हृदयि तेजज्ज तणाश्रहगारा इह भसि ॥

(भाचाराय नियुक्ति गा १२२)

पचागी रसाधरा रसाव-राय कर्मोदयार्किल

हुताशमरता तत्र, जिनेत्रा गतिप्रसा ॥ ’ (लाक प्रकाश पे २६)

यह विचार जीवाभिगम में भी है।

यद्यपि तत्त्वार्थभाष्यटीका आदि में तेज कायिक वायुकायिक को 'गतिप्रस' और आचाराग निर्युक्ति तथा उमकी टीका में 'लब्धिप्रस' कहा है तथापि गतिप्रस लब्धिप्रस इन दोनों शब्दों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का मतलब यह है कि तेजःकायिक वायुकायिक में द्वीन्द्रिय आदि की तरह प्रसनामकमौदय रूप प्रसत्व नहीं है, केवल गमन क्रिया रूप शक्ति होने से प्रसत्व माना जाता है; द्वीन्द्रिय आदि में तो प्रसनामकमौदय और गमनक्रिया उभय-रूप प्रसत्व है।

दिगम्बर साहित्य में सब जगह तेज कायिक वायुकायिक को स्थावर ही कहा है, कहीं भी अपेक्षा विशेष से उनको प्रस नहीं कहा है। "पृथिव्यप्तेजो वायुप्रसत्तयः स्थावरा ।" तत्त्वार्थ अ० १-१३ तथा उस की सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक ।

### (३) पंचसग्रह (श्री चन्द्रमहत्तर रचित)

(१) आदारिक मिश्रकाययोग के बन्धों तिर्य-चायु और मनुष्यायु की गणना इस कर्मग्रन्थ की गा १४ वा में की है। उक्त आयुओं का बन्ध मानने न मानने के विषय में ट्वाकारों ने शका समाधान किया है, जिस का विचार टिप्पणी

य ३७-३६ पर किया है। पंचसग्रह इस विषय में कर्ममय का समान उक्त दो आयुओं का बन्ध मानता है —

“ वेदधिविजुग न आहार ।

बध्द न उरलमीसे, नरयतिग धट्टममराउ ।’ ( ४-१२२ )

टीका— ‘ यत्तु तिर्यगायुमनुष्यायुस्तद्वत्त्वाभ्यवसायव्याग्यमिति तस्या मध्यवर्ध्यायो तथा च उत्तमय । ( श्री मतवगिरि )

मूल तथा टीका का सारांश इतना ही है कि आहारकण्डिक, नरकण्डिक और देवायु इन छ प्रकृतियों के सिवाय ५१४ प्रकृतियों का बन्ध, औदारिकमिश्रकाययोग में होता है। औदारिकमिश्रकाययोग के समय मन पर्याप्ति पूरा न बन जाने के कारण ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिन में कि नरकायु तथा देवायु का बंध हो सकता है। इसलिये इन दो का बन्ध उक्त योग में भले ही न हो, पर तिर्यगायु और मनुष्यायु का बन्ध उक्त योग में होता है क्योंकि इन दो आयुओं के बन्ध-योग्य अध्यवसाय उक्त योग में पाये जा सकते हैं।

(२) आहारककाययोग में ६३ प्रकृतियों का बंध का १५ वों में निर्दिष्ट है। इस विषय में पंचसग्रहकार का मत भिन्न है। वे आहारक काययोग में ५७ प्रकृतियों का बन्ध मानते हैं—

‘ सगन्धा वेवही, बध्द आहार उममसु ।’ ( ३-१२१ )

क

गा० ३	शा० दुल्लग	स० दुरग	हि० अशुभ विहायोगति नामकम् दा देवलोक
१०	कल्प दुग	कल्प द्विक	काइ
११	केइ	केचिन्	कामण काययोग
१५	कम्म	कामंण	केवल द्विक
१८	कयलदुग	केवल द्विक	कर्मण काययाग
२३	कम्मण	कर्मण	कर्मस्त्व नामक प्रकरण
२४	कम्मत्तयय	कमरतय	
१६	लइअ	ख	सायिक सम्यकत्व
२१	गइआइ	ग	गति वीरइ

गा०	प्रा०	स०	हि०
६	गुण गहृतस	गुण गतित्रस	गुणस्थान तेज काय, वायुकाय
१३			
१२	पुञ्जवद् चतुर्दशसथ	चतुर्नवति चतुर्दशशत	चौरानवे एकसौ चोदद
१४	षुक्लसु	षुक्लपू	षड्दर्शन
१७	चतुस	चरस	चान्वितस
१७	खड	खटुर्	खार
१७			
२	छेयट्ट	सेवार्ते	सेवार्ते सहनन नामकर्म
४	छनुइ-	पण्णवति	छानवे
१२	छनवद्	पण्णवति	छानवे
१८	छेअ	छेद	छेदोपस्थापनीय चारित्र

# ज

गा०	मा०	स	हि०
१	जिष्यचन्द्र	जिनचन्द्र	जिनेश्वर
२	जिण	जिन	जिन नामकर्म्म
५	जुष्म	युव	सहित
६	जिण इक्कारस	जिनैकादशक	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों
१०	जोह	ज्यतिष्	इत्येतिषी देव
११	जल	जल	जलकाय
१२	जति	जान्ति	पाते हैं
१३	जिणिककार	जिनैकादशक	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों
१४	जिण पणग	जिन-पचक	जिन आदि पंच प्रकृतियों
१५	जिण-पण	जिन-पचक	जिन आदि पंच प्रकृतियों
१५	जागि	योगिन्	सयोगि केवली
१८	ज्याइ	यदादि	प्रमत-सयत आदि गुणस्थान

त

गा०	प्रा०	स०	हि०
३	विरिडुग	तिर्यग्द्विक	तिर्यग्द्व-द्विक
३	तिरिनराड	तिर्यग्नरायुप्	तिर्यग्द्व-आयु तथा मनुष्य-आयु
४	तित्थ-	तीर्थे	तीर्थकर नामकर्म
५	तित्थयर	तीर्थकर	तिर्थकर नामकर्म
७	तिरिय	तिर्यच्	तिर्यग्द्व
११	व्रर	तठ	वनस्पतिकाय
१२	तिरियनराड	तिर्यग्नरायुप्	तिर्यग्द्व-आयु तथा मनुष्य-आयु
१२	तणुपञ्जत्ति	तनुपर्याप्ति	शरीर पर्याप्ति
१३	तस	त्रस	त्रसकाय
१३	तस्मिस्स	तन्मिभ	औदारिकमिश्रकाययोग
१६	तस्मिस्स	तन्मिभ	वैक्रियमिश्रकाययोग
१६	तिय कसाय	तृतीय कृपाय	तसिरा कपाय

गा०	मा०	स०	रि०
१७	ति	नि	चीन
१६	सेरस	प्रयोदशान्	वेरद
२०	वेण	केन	इस से
२१	स	सत्	सह
२२	षेष्	वेजस्	तेजो लेखा
२४	तर	प्रयोदशान्	वेरद
॥	सि.	इति	इस प्रकार
		थ	
२	धावर	रथावर	रथावर नामकर्म
३	धीयतिग	रथानर्दि-त्रिक	रथानर्दि-त्रिक
		द	
२	पेयाठ	देवासुप्	पेयासु कर्म
३	दुहग	दुर्भग	दुर्भग नामकर्म



गा०	प्रा०	स०	दि०
८	देश	देश	देश विरति
९	देशाद्	देशादि	देशविरति आदि गुणस्थान
१७	डु	द्वि	दो
१७	दस	दशन्	दस
१८	दुभि	द्वि	दो
१८	दो	द्वि	दो
२०	देवमणुआठ	देवमनुजायुप्	देव आयु तथा मनुष्य आयु
२४	देविदसरि	देवेन्द्रसरि	देवेन्द्रसरि
		<b>न</b>	
२	नरय	नरक	नरकगति नामकर्म
२	नपु	नपुसक	नपुसरु वेद सोदनीय
३	निय	नीच	नीच गोत्रकर्म
३	नर	नर	मनुष्यगति चासकर्म

गा०	मा०	स०	हि०
१७	ति	नि	धीन
१६	सेरस	अथादशान्	तेरु
२०	तेण	तेन	इस से
२१	त	तत्	यद्
२२	वेअ	तेजस्	तेजो सेरया
२४	तेर	अयोदशान्	तेरु
॥	सि	इति	इस प्रकार
		थ	
२	थावर	स्थावर	स्थावर नामकर्म
३	धीणतिग	सुथानार्द्धि-त्रिक	सुथानार्द्धि-त्रिक
		दु	
२	देवाव	देवायुप्	देवायु कर्म
३	दुदग	दुसंग	--दुसंग नामकर्म

गा०	सा०	स०	देश	देश
८	देस	देश	देश	देश
९	देसाद	देशादि	देशादि	देशादि
१७	डु	द्वि	द्वि	द्वि
१७	दस	दशान्	दशान्	दशान्
१८	दुजि	द्वि	द्वि	द्वि
१८	षो	देवमनुजायुप्	देवमनुजायुप्	देवमनुजायुप्
२०	देवमणुआउ	देवेन्द्रसूरि	देवेन्द्रसूरि	देवेन्द्रसूरि
२४	देविदसूरि	न	न	न
२	नरय	नरक	नरक	नरक
२	नपु-	नपुसक	नपुसक	नपुसक
३	निय	नीच	नीच	नीच
३	नर	नर	नर	नर
			नरकगति नामकर्म	नरकगति नामकर्म
			नपुसक वेद मोहनीय	नपुसक वेद मोहनीय
			नीच गोत्रकर्म	नीच गोत्रकर्म
			मनुष्यगति नामकर्म	मनुष्यगति नामकर्म
			दो	दो
			दस	दस
			दो	दो
			दो	दो
			देव आयु तथा मनुष्य आयु	देव आयु तथा मनुष्य आयु
			देवेन्द्रसूरि	देवेन्द्रसूरि

गा०	मा०	स०	हि०
४	निरय	निरय	नारक
४	नेपुचठ	नपुसक चतुष्क	नपुसक-चतुष्क
५	नराठ	नरायुप्	मनुष्य आयु
६	नरुग	नर-द्विक	मनुष्य द्विक
६	नपुसचठ	नपुसक-चतुष्क	नपुसक-चतुष्क
८	नरय-सोल	नरक थोढराक	नरक गति आदि १६ प्रकृतिवर्णो
८	नर	नर	मनुष्य
८ ११	नयसठ (य)	नवरात	एक सौ नय
१०	नवर	नवर	निराप
१२	न	न	नही
१३	नर तिग	नर त्रिक	नर त्रिक
१४	नरतिरिआठ	नरतिथगायुप्	मनुष्य आयु सथा तिर्यंप आयु
१६	नव	नवन्	नव

अपन्ना  
नरकगति आदि नव प्रकृतियों  
नरकगति आदि चारह प्रकृतियों  
जानने योग्य

निज  
नरक-नवक  
नरक-द्वादशक  
क्षेत्र

निय  
नरय नव  
नरय-चार  
नेय

१६  
२३  
२२  
२४

## प

पंक आदि नरक  
पर्याप्त  
परन्तु  
पृथिवी काय  
फिर  
पचेन्द्रिय  
पाष

पकादि  
पर्याप्त  
पर  
पृथिवी  
पुनर्  
पचेन्द्रिय  
पचन्

पकाइ  
पराज  
पर  
पुढवी  
पुण  
पण्डि  
पच

५ ७ ६ ११ १२ १३ १६

गा०

१७

१८

२२

१

१

४

५

८

१२

१६

१७

२०

प्रा०

पदमा

पदिहार

पम्हा

बन्ध विहाण

बधसासित्त

बधहिं

बिसयरि

बीध कसाय

बिति

बिध

बारस

बपति

स०

प्रथम -

प्रदिहार

पषा

व

बन्ध विधान

बन्ध-स्वामित्व

बध्नति

द्विसप्तति

द्वितीय कयाय

बुचन्ति

द्वितीय

द्विदशन्

बध्नन्ति

दि०

पदजा

परिहार विशुद्ध चालि

पषा केरया

बधका का करला

बन्धाधिकार

बोधते हैं

बहचर

अप्रत्याख्यानारण कयाय

कहते हैं

दूसरा

बारह

बोधते हैं

ॐ

भ

हि०

स०

भा०

गा०

प्रकार

भग

भग

५

भवनपति देव

भवण

भवण

१०

मन्व

भव

२३

म

मिथ्यात्व मोक्षनीय

मिथ्या

मिच्छ

०

मथ्याकृति

मज्झागिइ

३

मिथ्या

मिच्छ

४

मिश्र गुणस्थान

मीस

५

मिश्र द्विक

मीस-दुग

७

मन योग तथा ध्वन-योग

मणवयजोग

१३-

मनोशा

१८

मन, पर्यायशार

मणनाण

गा० मा०

- १८ मद् सुअ
- १९ मिच्छ तिग
- २३ मिच्छ सम

स०

- मति-प्रुत
- मिध्यात्रिक
- मिध्या सम

दि०

- मति और अतज्ञान
- मिध्यादृष्टि आवि तीन गुणस्थान
- मिध्यादृष्टि गुण स्थान के तुल्य

### र

- ३ रिसद
- ५ रयणाइ
- ११ रयण
- १६ रद्विअ

- अपम
- रत्नादि
- रत्न
- रहित

- अ-अपम नाराच सहनन
- रत्नप्रभा आदि नरक
- रत्नप्रभा
- रहित

### ले

- १७ लोभ
- २४ लिहिय

- लोभ
- लिखित

- लोभ कृपाय मागणा
- लिखा हुआ



व

गा० अ०	प्रा०	स०	हि०
१	विमुक्त	विमुक्त	मुक्त
१	वदिय	वन्दित्वा	वन्दन कर के
१	वद्धमाण	वर्धमान	सहायार
१	बुद्ध	वस्तु	कहुगा
२	विउव	वैत्रिय	वैक्रिय
२	विगलतिग	विकलत्रिक	विकलत्रिक
५	वज्ज	वर्ज	घोड करके
५	विण	विना	विना
५	विण	विना	विना
७	निरहिअ	विरहित	रहित

गा०	भा०	स	दि
१०	वि	अपि च	भी
१०	पृष्	वन	धाण न्य तर
१०	ल्व	इव	यथा
११	विगल	विकल	विकलेन्द्रिय
१६	वडल्व	वेक्रिय	वेक्रियकाययोग
१६	वेस तिग	षट् त्रिक	तीन वेद
१६	वेयग	वेदक	वेदक सम्यक्त्व
२०	षट्ठ	वर्तमान	वर्तमान
		<b>स</b>	
	सिरि	श्री	श्री
१	समास	समास	सञ्चेष
२	गुर	गुर	देवगति नामकर्म

गा०	प्रा०	स०	हि०
२	मुहुम	सूद्धम	सूद्धम नामकर्म
३	सपयय	सहन्नन	सहन्नन
४	सुरइगुणवीस	सुरैकोनविराति	देवगति आदि १६ प्रकृतियों
४	सय	रात	सौ
५	सासण	सास्वादन	सास्वादन गुणस्थान
५	सम,	सम्यक्	अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान
६	सत्तमि	सप्तमी	सातवीं
६	सासाण	सास्वादन	सास्वादन गुणस्थान
७	सयरि	सप्तति	सत्तर
७	सतरसठ	सप्तदशशत	सप्तसौ सत्रह
८	सुराठ	सुरायुप्	देवायु
१०	सुर	सुर	देव

गा०	प्रा०	सं०	दि०
१०	सद्विभ	सहित	सहित
११	सण्णुमारार	सनलुमारारदि	सनलुमार आदि देव लोक
१२	सुहमतेर	सूरम-त्रयोदशक	सूरम नामकर्म आदि तेरह प्रकृतितर्या
१५	साय	सात	सात-शेदनीय
१७	सजलय तिग	सव्यसन त्रिक	सव्यसन प्रोष मान माया
१८	सग	सप्तम्	रात (७)
१८	समइअ	सामायिक	सामायिक वारिन
१९	सुहुम	सूरम	सूरम-सपराय वारिन
१९	सठाण	स्वस्थान	अपन्ता गुणस्थान
२१	साणार	सासादनादि	सास्वादन आदि गुणस्थान
२१	सन्व	सब	सब
२२	सुकका	शुक्ला	शुक्ल लेख्या

२३	सनि	सखिन्	सखि भांगणा
२४	सोउ	भुत्वा	सुन कर

ह

२	हुट	हुट	हुटक स्थान
५	दीण	दीन	रहित





इ चतुरोमु वि नरा, परमजया सजिण्य श्रोहो देसाई ।  
 विष्णुकारसहीणं, नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥ ६ ॥  
 तिरिय च सुरा नवर, ओहे मिच्छे इगिदितिगसदिया ।  
 इन्दुगे वि. य एय, जिणहीणो जोइभवणवणे ॥ १० ॥  
 एणु व मणकुमारा इ आणयाई उज्जोयचउरहिया ।  
 अपजत्ततिरिय व नरमय, मिगिदिपुढविजलतरुविगले ॥ ११ ॥  
 इनवइ सामाणि जिणु मुहु मतेर केइ पुण जिनि चउनपद  
 तिरियनराइहि जिणा, तणु-पज्जात्ति न ते जति ॥ १२ ॥  
 श्रोहो पण्डितमे गइ तसे जिणिकारनरतिगुच्चविणा ।  
 मणवयजोगे श्रोहो, उरले नरभगु तम्मिस्स ॥ १३ ॥  
 आहारद्वग विणोहे, चउदससउ मिच्छि जिणपणगहोण ।  
 मासणि चउनवइ विणा, उरतिरिआउ सुहुमतेर ॥ १४ ॥  
 अणचउवासाइ विणा जिणपणनुय ममि जोगिणो साय ।  
 विणु तिरिनराउ कम्मे, वि एवमाहारुगि श्रोहो ॥ १५ ॥  
 सुरश्रोहो धेउल्ले, तिरियनराउरहिओ य तम्मिस्से ।  
 वयतिगाइमानियातिय-वसाय नवदुचउपचगुण ॥ १६ ॥  
 सजलणतिग नव दस, ओहे चउ अजइ टुति अनाणतिगे ।  
 चारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाय चरमचऊ ॥ १७ ॥

## परिशिष्ट ग

'चन्द्यस्वामित्व' नामक नासरे कर्मग्रन्थ की मूल गाथाए

पयदिहाणविपुष्प, धरिय तिरिपुननागजिपुषन्व ।

गइयाइमु पुचुत्तं, सभासभो यधसामिच ॥ १ ॥

जिण्णसुर विज्याहारदु-देयाउ य नरयमुहुन विगहविग ।

एगिदिपायरायव-नपुमिच्च कुदयेपट्ट ॥ २ ॥

अणमन्नागिइ सपच-एणुमग निगइविपुहग धाणविग ।

सगोपतिरिपुम तिरि नराउरउरल्लुगुरिमह ॥ ३ ॥

सुरइगुण्णवीसयन्, इरासउ ओहेण यधहि निरया ।

तिरिप विष्ठा मिच्छि सर, सात्तणि नपु यव विष्ठा इनुई ॥ ४ ॥

विण अण इवीस मीसे, विसयरि सममि जिण्णाएवणुया ।

इय रयणाइमु भगा, पकाइमु तित्थयरहाणो ॥ ५ ॥

अजिणमणुआउ ओहे, सत्तमिण नरदुगुण्ण विणु मिच्छं ।

इगनयई सासाण्णे तिरिआउ नपुसपउवत्त ॥ ६ ॥

अण्णचउवीसविरहिष्ठा, सनरदुगुण्णा य राचरि मीसदुगे ।

सवरसउ आदि मिन्दे, पज्जतिरिया विणु जिण्णाइर (र) ॥ ७ ॥

विणु नरयसोख सासणि, सुराउ अण्णएगवीस विणु मीसे ।

एणुराउ सयरि समे, पीयकसाए विष्ठा वेस ॥ ८ ॥



व चमूलेषु वि नरा, परमजया सजिण श्रोहु देसाई । ॥

॥ नवसड अपजत्तविरियनरा ॥ ६ ॥

अथ व सुरा नवर, श्रोहे मिच्छे इगिदितिगसहिया ।

अमदुगे वि य णर, जिणहीणो जोइभवणवणे ॥ १० ॥

एणु व सणकुमारा इ आणयाई उज्जोथचठरहिया ।

अग्नविरिय व नवसय, मिगिदिपुदविजलनरुयिगले ॥ ११ ॥

इवइ सामाणि विणु मुहु-मतेर वेइ पुण विति चउनयड

विरियनराअहि विणा, तणु-पज्जत्ति न ते जति ॥ १२ ॥

आहु पणिविनसे गइ तसे जिणिफारनरतिगुच्चविणा ।

अणवयजोगे श्रोहो, उरले नरभगुं तम्मिस्स ॥ १३ ॥

आहारद्वग विणोहे, चउदससड मिच्छि जिणपणगहीण ।

मासणि चउनयइ विणा, नरतिगिआउ मुहुमतेर ॥ १४ ॥

अणचठवासाइ विणा जिणपणजुय ममि, जोगिणो साय ।

विणु विरिनराउ कम्मे, वि एवमाहारदुगि आहो ॥ १५ ॥

सुरभोहो वेउठ्ये, विरियनगउरहियो य तम्मिस्से ।

वयतिगाइमात्रयतिव कमाय नवेदुचपपगुणे ॥ १६ ॥

सजलणतिग नव दस, श्रोहे चउ अजइ द्रुति अणणतिगे ।

वारस अपवन्नुचक्खुसु, पटमा अहस्वाय चरमचऊ ॥ १७ ॥

मगनाणि मग जथाऽ, समङ्गय उड दुन्नि परिहार ।  
 केवलदुग्धि दो चरमा ऽमगाइ १व मइसुओडिटुगे ॥ १८ ॥  
 अड उवममि चड वेयति, गइये इकार मिच्छविगि देसे ।  
 सुदुमि सटाण तेरस, आहारगि नियनियगुणोहो ॥ १९ ॥  
 परमुवममि वट्टा, आउ १ यधति तग्न अजयगुण ।  
 रेमगुआउहीणे, दमाइसु पुग्न सुराउ विणा ॥ २० ॥  
 ओह अट्टारमय, आहारदुग्णु माडनेमत्तिग ।  
 त तित्वाण मिच्छ, साणाइसु सत्त्वहिं ओहो ॥ २१ ॥  
 नेउ नरयनवूणा, उउपोयचउतरयनारविगु सुषा ।  
 विगु नरयनार पम्हा, अनिणाहार इमा मिच्छे ॥ २२ ॥  
 मव्वगुण भउर मनिगु, याहु अमव्वा अमनि मिच्छममा ।  
 मामाणि अमनि मनि २ कम्मणभगो अणाहार ॥ २३ ॥  
 तिसु वृमु मुफाड गुणा च २ मग तरनि २ धमाभिर्त्ति ।  
 मनिमूनि लिट्टिय नय कम्म वय माउ ॥ २४ ॥



# शुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१	१	सूरि विरचित	सूरि-विरचित
२	१३	योगता	योग्यता
७	१	प्रकृतियों	प्रकृतियों
११	१२	पूर्वोक्त	पूर्वोक्त
८	१७	क्योंकि उक्त,	क्योंकि, उक्त
१५	१३	सबमिला	सब मिला
१५	१६	वचनात्	वचनात् ।
२६	०	नवसय	नवसय
७	८	नतो	न तो
२३	१	विफलेन्द्रि	विकलेन्द्रिय
५०	१६	सद्द	संदेह
४०	१३	शब्द	शब्द
४०	१८	अपयाप्त	, अपर्णाप्त
५६	१	स्वामित्व	स्वामित्व
६०	१४	से	से
६३	२०	अयु	आयु
६८	३	उद्यान	उद्यान
७८	१४	तीर्थस्वर	तीर्थस्वर
१०८	१६	विगु	विगु

मणु ताण्डि सग नयाड, समइयद्वय चउ टुनि  
 केयलटुगि दो चरमा-उत्रयाइ नय मइमुओटि  
 अह उरसभि चउ वेयगि, स्वइये इक्षार मिच्छ  
 सुहुमि सठाण तेरस, आहारगि नियनियगुण  
 परमुवमभि वट्टता, आउ न वधति तण थजय  
 देमणुआउहीणो, दमाइमु पुणु मुराउ विणु  
 ओह अट्टारमय, आहारटुगुण माडलेमतिग ।  
 त तिव्याण मिच्छ, भाणाइमु सवति थोहो ॥  
 नेउ नरयनबूणा, उज्जोयचउतरयनारविणु सुखा  
 पिणु नरयनार पम्हा, अनिणाहारा इमा मिच्छ ॥  
 मरगुण भउर मनिमु, आह अभवना अमनि मि  
 मामगि अमनि मनि उ कम्मणभगो थणुाहार ॥  
 तिसु दुमु सुखाइ गुणा चउ मग तरत्ति वन्धमागि  
 देविमृगि लिणिय नर कम्म भय माउ ॥२॥





मणुनाथि मय जगद, समइयलय चउ दुन्नि परिहार ।  
 अयलदुगि दा चरभा उतयाइ नव मइसुओदिदुगे ॥ १८ ॥  
 अइ हयसमि चउ वेयगि, मइये इकार भिन्द्याविगि नेये ।  
 सुहमि मठाण तेरस, आहारगि नियनियगुणोहा ॥ १९ ॥  
 परमुवममि वट्टता, थाउ न वुपति तेण थजवगुण ।  
 दयमगुआउहोणा वमाइसु पुण मुराउ विणा ॥ २० ॥  
 ओह अट्टारमय, आररगुण माइनेमतिग ।  
 त तिःगाण भिन्द, माणाइमु सव्वहि ओडो ॥ २१ ॥  
 तउ गरयनगुणा, वउनेवचउरयवारविणु मुया ।  
 विणु नरयवार पम्हा, अनिणात्तरा इमा भिन्दे ॥ २२ ॥  
 मउगुण भउव मतिमु, था अमवरा अमति, भिन्दममा ।  
 नामणि अमनि मतिर रम्मगुभगो अण्णाहार ॥ २३ ॥  
 तिम दमु मकाइ गुणा चउ भम तेरति रधमामि ॥ १ ॥  
 भिन्दमि तिःगा ॥ २ ॥ रम्म वय माउ ॥ २ ॥ ॥



# मण्डल की कुछ पुस्तके ।

(धी धामारामजी महाराज रचित)	(खाला कसोबाजी वम. ७ रचित)
१ सगुनिषय प्राणाय ३)	१६ उपनिषद् रहस्य २)५
२ मन्थर उ शरथादर ॥२)	१७ व्याकरण बोध ३)५
३ जन धन विषयक प्रश्नोत्तर॥)	१८ व्याकरण मार १५)
धी दिन विप्रवशी रचित	१९ साहित्य मंगल १५)
४ मिश्रित विधाय १)	२० स भाषिक मुधार ३)
५ शकुन्तल गार्गादर ५२)	२१ जनतरय मीमांसा ५)
६ जनगणतार २)॥	२२ मधुनर्माभय १)५
(९० मन्त्रज्ञानेन अनुधाहित	२३ गीता दशन ३)
७ नयतर १)	(शुनि नायिक-का )
८ जीव विधार ३)	२४ मन्त्रायदीपिका ५)
९ यातशगस्ताय ३)	२५ कल्पभूष द्विन्दी भाषान्तर १५)
१० पहिला कर्मप्र थ ११) ११)	२६ भ्रामर धार कवचाय
११ दूसरा कर्मप्र थ १२) ॥२)	मन्दिर अध सहित २)
१२ तामरा कर्मप्र थ ५)	२७ भद्रपादु धार ५९९भूष २)
(९० इमहाय जी रचित)	२८ दिव्य जीवन ११)
१३ स्वामीदधानद धार जेवधर्म॥)	२९ रम्याय जीव ५३)
१४ नरमेध यन मीमांसा ५)	३० कुम्हार पाठ धरिय १५)
१५ जैनस्तिक उ मीमांसा ५)॥	३१ मद्राधार शिषा १)
३२ The Churgo Prashnottar	०—१२—०
३३ Some Distingua hed Jains	०—५—०
३४ The study of Jainism	०—१२—०
३५ I ord Krishna १९ Mes १५५	०—१—०
३६ The Master Por	१



